आचार्यनागार्जुनविरचिता

रत्नावली

आचार्यनागार्जुनविरचिता

रत्नावली

प्रथम परिच्छेद

समस्त दोषों से रहित, सभी गुणों से अलंकृत एवं समस्त सत्त्वों के एक मात्र बन्धु, सर्वज्ञ (भगवान् बुद्ध) को प्रणाम करके मैं, ॥ १ ॥

हे राजन्, एकान्त (नितान्त) कल्याणभूत धर्म के उत्कर्ष के लिए तुम्हें धर्म कहने जा रहा हूँ; क्योंकि सद्धर्म के पात्र में (ही) सिद्धि को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

जहाँ पहले अभ्युदय-धर्म है (वहाँ) बाद में निःश्रेयस का उदय होता है, क्योंकि अभ्युदय को प्राप्त करके (ही) क्रमशः निःश्रेयस को प्राप्त किया जाता है ॥ ३ ॥

इनमें सुख को अभ्युदय और मोक्ष को निःश्रेयस माना गया है । संक्षेप से कहें तो इनके साधन सार रूप में श्रद्धा और प्रज्ञा हैं ॥ ४ ॥

श्रद्धावान् होने से (दस कुशलकर्म आदि अभ्युदय) धर्म का सेवन करता है और प्रज्ञावान् होने से तत्त्व को जानता है । इन दोनों में प्रज्ञा प्रधान है (क्योंकि इसी से सांसारिक बन्धन से मुक्ति सम्भव है) और श्रद्धा इस (प्रज्ञा) की पूर्वगामी है (क्योंकि श्रद्धा से ही इस तरह के धर्म में प्रवृत्ति होती है) ॥ ५ ॥

छन्द (इच्छा), द्वेष, भय और मोह के कारण जो धर्म का अतिक्रमण नहीं करता, वह श्रद्धावान् है- ऐसा जानना चाहिए (और) वह निःश्रेयस का उत्तम पात्र है ॥ ६ ॥

जो काय, वाक् और मन के सभी कर्मों का सम्यग् परीक्षण कर दूसरे और अपने हित को भलीभाँति जानकर सदा (उसका) आचरण करता है, वह पण्डित है ॥ ७॥

अहिंसा, चौर्य से विरति एवं पराई स्त्रियों का परित्याग, झूठ, चुगली, कठोर वाक्य और असम्बद्ध प्रलाप पर नियन्त्रण- ॥ ८॥

तथा लोभ, परोपघात और नास्तिक्य दृष्टि का परित्याग (ये तीन अकुशल मानस कर्म हैं, सब मिलकर) दस शुक्ल (कुशल) पथ हैं, इनसे विपरीत (दस) कृष्ण (अकुशल) पथ हैं ॥ ९॥

मद्य न पीना, वैध जीविका, अविहिंसा, आदरपूर्वक दान, पूज्यों की पूजा और मैत्री संक्षेप में ये (अमद्यपान आदि छह और पूर्वोक्त दस कुशलपथ=१६ अभ्युदय) धर्म हैं ॥ १०॥

क्योंकि केवल शरीर को तपाने से धर्म नहीं होता, अतः इसके द्वारा न तो दूसरों के प्रति द्रोह की शान्ति होती है और न दूसरों पर अनुग्रह ही किया जा सकता है ॥ ११॥

दान, शील, और क्षमा से आलोकित सद्धर्म के महापथ की अवहेलना करके जो (व्यक्ति) शरीर को कष्ट देने वाले गलत रास्ता गोदण्डक स्वरूप (गायों द्वारा निर्मित मार्ग) द्वे जाता है : ॥ १२॥

वह क्लेशरूपी सर्पों के समूहों से लिपटे हुए अङ्गों अगणित मनुष्यरूपी वृक्षों वाली, भयङ्कर एवं सुविस्तृत संसार-रूपी अटवी (जंगल) में (बहुत लम्बे समय तक) भ्रमण करता है ॥ १३॥

हिंसा से (व्यक्ति) अल्पायु होता है, विहिंसा से बहुत सी बाधाओं से ग्रस्त होता है, चोरी से भोगों का अभाव या संकट प्राप्त होता है और परस्त्रीगामी (अनेक) शत्रुओं से युक्त होता है ॥ १४॥

झूठ बोलने से (व्यक्ति) अवहेलना (भर्त्सना) का पात्र होता है, चुगली से मित्रों से फूट होती है, रूखे (कठोर) वचन से अप्रिय श्रवण करना पड़ता है तथा असम्बद्ध (सम्भिन्न) प्रलाप से वचन प्रभावहीन होते हैं ॥ १५॥

अभिध्या (परसम्पत्ति का लालच) मनोरथों को नष्ट करती है, व्यापाद (दूसरों को हानि पहुँचाने की इच्छा) भयदायक माना गया है । मिथ्यादृष्टि (कर्मफल आदि के प्रति अविश्वास) से कुदृष्टित्व तथा मद्यपान से मतिभ्रम होता है ॥ १६॥

दान न देने से दरिद्रता, अवैध (गलत) आजीविका से धोखा, अनमनीयता (अमृदुता) से दुष्कुलीनता तथा ईर्ष्या से ओजस् की कमी होती है ॥ १७॥

क्रोध से दुर्वर्णता और विद्वानों के साथ परिप्रश्न न करने से मूर्खता प्राप्त होती है । ये फल मनुष्य-जन्म में होंगे (किन्तु इन) सबसे पहले (तो) दुर्गति (प्रेत, तिर्यक् एवं नरक योनि) प्राप्त होगी ॥ १८॥

इन अकुशलों का जो विपाक (=परिणाम) कहा गया है, (उससे) विपरीत सभी कुशलों का फलोत्पाद होता है ॥ १९॥

लोभ, द्वेष और मोह तथा इनसे उत्पन्न कर्म अकुशल हैं, अलोभ, अद्वेष और अमोह तथा उनसे उत्पन्न कर्म कुशल हैं ॥ २०॥

अकुशल से समस्त दुःख और सारी दुर्गतियां होती हैं तथा कुशल से सारी सुगतियाँ और सभी जन्मों में सुख प्राप्त होता है ॥ २१॥

काय, वाक् और मन के द्वारा समस्त अकुशलों से निवृत्ति तथा (समस्त) कुशलों में सदा प्रवृत्ति- इस प्रकार यह धर्म दो प्रकार का कहा गया है ॥ २२॥

इस धर्म से नरक, प्रेत और तिर्यग् योनि से छुटकारा मिलता है तथा मनुष्यों और देव योनियों में सुख, सम्पत्ति एवं राज्य का विस्तार प्राप्त होता है ॥ २३॥

(रूपावचर) ध्यान, अप्रमाण (चार ब्रह्मविहार) और आरूप्य (अरूपी ध्यान) से तो व्यक्ति ब्राह्म (ब्रह्मलोक में प्राप्य) आदि सुख का अनुभव करता है । इस तरह संक्षेप में इस अभ्युदय धर्म और इसके फल (की व्यवस्था) है ॥ २४॥

नि:श्रेयस धर्म तो सूक्ष्म और गम्भीर है । बुद्धों ने उसे अश्रुतवान् अज्ञानियों के लिए त्रास (भय) पैदा करने वाला कहा है ॥ २५॥

न मैं हूँ, न होऊँगा, न मेरा है, न होगा, इस प्रकार (के सोच) से अज्ञानी भयभीत होते हैं (परन्तु) पण्डितों के भय का नाश होता है ॥ २६॥

यह समस्त प्रजा अहङ्कार से उत्पन्न है और ममकार से युक्त है । ऐसा प्रजा के एकान्त हितैषी (भगवान् बुद्ध) ने कहा है ॥ २७॥

मैं (अहं) हूँ और मेरा (मम) है- यह (कल्पना) परमार्थत: मिथ्या है । यथाभूत (जैसा है, वैसे) के ज्ञान से (आर्यों की दृष्टि में) ये दोनों नहीं होते ॥ २८॥

पाँचों स्कन्ध अहङ्कार से उत्पन्न हैं और वह अहङ्कार (भी) वास्तव में मृषा है । जिसका बीज मृषा है उससे उत्पन्न अङ्कुर कैसे सत्य होगा ?॥ २९॥

स्कन्धों को असत्य देखने (जानने) पर अहंकार का प्रहाण हो जाता है और अहंकार का प्रहाण होने से पुन: स्कन्धों का उत्पाद नहीं होता ॥ ३०॥

जिस तरह दर्पण के आश्रय से अपने मुख का प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता है, किन्तु वस्तुतः वह कुछ भी नहीं होता ॥ ३१ ॥

उसी तरह स्कन्धों के आश्रय से अहङ्कार की उपलब्धि होती है । वस्तुतः वह (अहङ्कार) स्वकीय मुख के प्रतिबिम्ब की भाँति कुछ भी नहीं है ॥ ३२ ॥

जैसे दर्पण का आश्रय लिए बिना स्वकीय मुख का प्रतिबिम्ब नहीं देखा जाता, वैसे ही स्कन्धों का आश्रय लिए बिना अहङ्कार भी (उपलब्ध नहीं होता) ॥ ३३ ॥

इस प्रकार के अर्थों (तत्त्वार्थों) के श्रवण से आर्य आनन्द को धर्मचक्षु की प्राप्ति हुई और स्वयं उन्होंने (यह बात) अन्य भिक्षुओं से बार बार कही ॥ ३४ ॥

जब तक स्कन्धाभिनिवेश होता हैं तभी तक 'अहम्' (मैं) का भी (ग्रहण होता हैं) । अहङ्कार के होने पर ही कर्म होते हैं और उनसे फिर जन्म होता हैं ।।३५।।

(क्लेश, कर्म एवं जन्म नामक) तीन वर्त्म (मार्गों) वाला, अथ च आदि, मध्य एवं अन्त से रहित यह संसार-चक्र परस्पराश्रय से अलातचक्र की भाँति (निरन्तर) प्रवृत्त होता रहता हैं ।।३६।।

वह (भवचक्र) स्वतः, परतः, उभयतः और तीनों कालों में (स्वभावतः) सिद्ध नहीं हैं । (इस असिद्धि का दर्शन होने पर) अहङ्कार (सत्कायदृष्टि) का क्षय हो जाता हैं और उससे कर्म और जन्म का भी ।।३७।।

इस प्रकार हेतु और फल के उत्पाद तथा उनके नाश को देखते हुए (आर्य जन) तत्त्वतः लोक की अस्तिता या नास्तिता में पतित नहीं होते ।।३८।।

समस्त दुःखों का नाश करने वाले इस (प्रपञ्चरहित) धर्म का श्रवण करके भी (तत्त्व की) परीक्षा करने में असमर्थ (अविवेकी मूढ), (पण्डितों के) अभय स्थान में (अपने) अपरिज्ञान के कारण भयभीत होते हैं ।।३९।।

निर्वाण (निरुपधिशेष) में ये सब (स्कन्ध आदि) नहीं होंगे, उससे तुमको भय नहीं हैं, (फिर) यहाँ उस (स्वतन्त्र सत्ता) का अभाव कहने पर तुमको भय क्यों हो रहा हैं ?।।४०।।

जिस मोक्ष में न आत्मा हैं और न स्कन्ध, ऐसा मोक्ष यदि तुम्हें प्रिय (इष्ट) हैं तो (फिर) यहीं (वर्तमान में) आत्मा एवं स्कन्धों का निराकरण तुम्हें क्यों प्रिय नहीं हैं ?।।४१।।

जब (स्वभावतः) अभाव भी निर्वाण नहीं हैं तो उसकी भावरूपता कैसे (हो सकती हैं) ? (तत्त्वतः) भाव और अभाव के विचार का नाश ही 'निर्वाण' कहा जाता हैं ।।४२।।

कर्मों का फल नहीं होता, संक्षेप में यही नास्तिता-दृष्टि हैं । यह पापात्मिका एवं अपाय (नरक) में गमन कराने वाली हैं । इसे (भगवान् ने) मिथ्यादृष्टि कहा हैं ।।४३।।

(कृत) कर्मों का फल होता हैं, संक्षेप में यह अस्तिता (आस्तिकी) दृष्टि हैं । यह पुण्यात्मिका एवं सुगति में ले जाने वाली सम्यग्-दृष्टि कही गयी हैं ।।४४।।

(परम तत्त्व का) ज्ञान हो जाने पर नास्तिता और अस्तिता (दृष्टियों) के शान्त हो जाने से पुण्य और पाप का अतिक्रमण हो जाता हैं । इससे सुगति और दुर्गति का भी अतिक्रमण हो जाता हैं । साधु पुरुषों (सज्जनों) ने इसे ही मोक्ष कहा हैं ।।४५।।

उत्पत्ति को सहेतुक देखते हुए (साधक) नास्तिता (उच्छेद) को पार कर लेता हैं और निरोध को सहेतुक देखते हुए अस्तिता (=शाश्वतवाद) में भी अभिनिविष्ट नहीं होता हैं।।४६।।

(फल से) पूर्व उत्पन्न तथा साथ उत्पन्न (दोनों प्रकार के) हेतु वस्तुतः हेतु नहीं हैं, क्योंकि (स्वभावतः फल की) उत्पत्ति भी प्रज्ञप्तितः (व्यावहारिक प्रमाणों द्वारा) एवं तत्त्वतः (परमार्थ-प्रमाणों द्वारा) अप्रतीत (अप्रसिद्ध) हैं ।।४७।।

इसके होने पर यह होता हैं, जैसे कि दीर्घ होने पर ह्रस्व होता हैं और इसकी उत्पत्ति से इसका उत्पाद होता हैं जैसे दीप के उत्पाद से प्रभा (होती हैं) ।।४८।।

ह्रस्व के न रहने पर स्वभावतः दीर्घ नहीं होता, जैसे दीप के न होने पर प्रभा की भी सम्भावना नहीं होती ।।४९।।

इस प्रकार हेतु से फल की उत्पत्ति देखकर (माध्यमिक) नास्तिता में भी अभिनिविष्ट नहीं होते (क्योंकि) वे इस लोक की वास्तविकता प्रपञ्च से उत्पन्न हैं- ऐसा स्वीकार करते हैं।।५०।।

निरोध को अप्रपञ्च से व्युत्थित एवं यथाभूत (दर्शन) से प्राप्त जानकर अस्तिता (शाश्वतान्त) में भी अभिनिविष्ट नहीं होता । इस तरह अद्वय में आश्रित (माध्यमिक) (अस्तिता-नास्तिता दोनों से) मुक्त होता हैं ।।५१।।

दूर से दिखाई देने वाला रूप निकटवर्ती लोगों को स्पष्टतया दिखाई देता हैं । (अतः वास्तव में) यदि मरीचि जल हैं तो (वह) उसके निकटवर्ती लोगों को क्यों नहीं दिखाई देता ?।।५२।।

(तत्त्व दर्शन से) दूरस्थ लोगों के द्वारा जैसे यह लोक यथाभूत (स्वभावतः) देखा जाता हैं, वैसे (तत्त्व के) समीपस्थ (आर्यों) के द्वारा नहीं देखा जाता हैं (क्योंकि) वह मरीचि की भाँति (आर्यों की दृष्टि में) निर्निमित्त होता हैं ।।५३।।

जिस तरह जलसदृश मरीचि न जल हैं और न वस्तुतः ही हैं, उसी तरह आत्मा के सदृश (अवभासित होने वाले) स्कन्ध भी न तो आत्मा हैं और न वस्तुतः ही हैं ।।५४।।

यदि कोई मरीचि को (देखकर) "वह (वस्तुतः) पानी हैं"– ऐसा मानकर वहाँ जाने पर यदि "यह पानी नहीं हैं"– ऐसा ग्रहण करे तो मूर्ख ही हैं ।।५५।।

मरीचि के समान इस लोक को "यह इसी प्रकार (सत्य) हैं"– इस तरह ग्रहण करने वाले का (बाद में) "यह ऐसा नहीं हैं"– ऐसा (ग्रहण करना) भी मोह (ही) हैं और मोह के होने पर मुक्त होना सम्भव नहीं हैं ।।५६।।

(कर्म, कर्मफल आदि न मानने वाले) नास्तिक लोग दुर्गति को प्राप्त करते हैं, (इसके विपरीत) आस्तिक सुगति को प्राप्त करते हैं । किन्तु यथाभूत का परिज्ञान होने से अद्वय में निःश्रित (माध्यमिक) मोक्ष को प्राप्त करते हैं ।।५७।।

(वस्तुस्थिति के) यथाभूत–परिज्ञान (यथार्थज्ञान) से (माध्यमिक को स्वभावतः) अस्तिता और नास्तिता (दोनों) इष्ट न होने पर भी (वस्तुवादियों की दृष्टि में यदि वह माध्यमिक) नास्तिता को प्राप्त करता हैं तो क्यों वह अस्तिता को प्राप्त नहीं करता ?।।५८।।

यदि 'अस्तिता' में दूषण दिए जाने से अर्थतः (दूषण के बल से उस पर) नास्तिता का आक्षेप हो जाता हैं, तो नास्तिता में (भी) दूषण दिए जाने से (उस पर) अस्तिता का आक्षेप क्यों नहीं होता ?।।५९।।

जिन्होंने वस्तुतः (कर्म, फल आदि के) नास्तित्व को न प्रतिज्ञा की, न (प्रतिज्ञा के अनुसार) आचरण किया और (वैसा) मनसिकार किया, अपितु बोधि (–मार्ग) का आश्रयण किया, अतः कैसे वे नास्तिक कहे जा सकते हैं ?।।६०।।

(द्रव्यतः सत्) पुद्गल और (द्रव्यसत्) स्कन्ध मानने वाले सांख्य, औलूक्य (वैशेषिक), निर्ग्रन्थ (जैन) लोग यदि (स्वभावतः) अस्ति और (व्यवहारतः) नास्ति का व्यतिक्रम करते हैं तो उनसे पूछो ।।६१।।

(स्वभावतः) अस्ति और (व्यवहारतः) नास्ति के (माध्यमिकसम्मत) व्यतिक्रम को 'धर्मयौतक' (धरोहर) जानना चाहिए, भगवान् ने इसे (अत्यन्त) गम्भीर कहा हैं और यही बुद्धों का शासनामृत हैं ।।६२।।

विनाश होने पर (स्कन्ध) न (कहीं) जाते हैं, (उत्पत्ति काल में) न (कहीं से) आते हैं और (उत्पन्न होने पर) न क्षण भर ठहरते ही हैं । इस तरह तीनों कालों से व्यतिवृत्त (अतीत) स्वरूप वाला यह लोक वस्तुतः हैं कहाँ ?॥६३॥

(संसार और निर्वाण) दोनों का तत्त्वतः न कहीं गमन होता हैं, न कहीं से आगमन, और न कहीं ठहराव । अतः इन दोनों में अर्थतः क्या अन्तर हैं ? (अर्थात् कुछ भी नहीं) ॥६४॥

(किसी भी वस्तु की) स्थिति न होने से (तत्त्वतः) उत्पाद और निरोध भी नहीं हैं । अतः उत्पन्न, स्थित और निरुद्ध अर्थतः हैं कहाँ ?॥६५॥

यदि सदा परिणाम होता हैं तो भाव (वस्तु) अक्षणिक कैसे हैं (और) यदि परिणाम नहीं होता हैं तो वस्तुतः (भावों में) परिवर्तन (अन्यथात्व) कैसे होगा ?॥६६॥

(वस्तु) एकदेश (एक अंश) के क्षय से क्षणिक होती हैं या सर्वांश के क्षय से क्षणिक होती हैं । विषमता के अनुपलब्ध होने से ये दोनों (पक्ष) युक्तियुक्त नहीं हैं ॥६७॥

(धर्मों के) क्षणिक होने पर (उनका) सर्वथा अभाव हो जाने से कैसे (किसी की) कुछ भी पुराणता (शाश्वतिकता) सिद्ध होगी ? अक्षणिक (नित्य एकस्वभाव) होने पर भी कैसे पुराणता सिद्ध होगी ? अर्थात् नहीं (ही) होगी ॥६८॥

जैसे क्षण का अन्त (–भाग) माना जाता हैं, उसी तरह (उसके) आदि–मध्य (भाग) भी माने जाने चाहिए । इस तरह क्षण के तीन स्वभाव वाला होने से लोक की क्षणमात्र भी स्थिति नहीं हैं ॥६९॥

क्षण के (आदि, मध्य और अन्त के) समान (सभी के) आदि, मध्य और अवसान (अन्त) को जानना चाहिए । किन्तु आदिता, मध्यता और अवसानता न तो स्वतः और न परतः ही सिद्ध हैं ॥७०॥

अनेक अवयवों से युक्त होने के कारण (वस्तु) एक नहीं हैं और कोई भी (वस्तु) अवयवरहित भी नहीं हैं । एक के न होने पर अनेक नहीं होता और अस्तित्व के (स्वभावतः) न होने पर नास्तित्व भी (स्वभावतः) नहीं होगा ॥७१॥

विनाश और प्रतिपक्ष (प्रहायक) के कारण (लोक का) अस्तित्व नास्तित्व में परिणत हो जाता हैं, किन्तु (स्वतः सिद्ध) अस्तित्व के ही असम्भव होने से विनाश और प्रतिपक्ष ही कैसे (उपपन्न) होंगे ?॥७२॥

अतः निर्वाण की प्राप्ति से वास्तव में लोक की न्यूनता नहीं होती हैं । लोक "अन्तवान् हैं कि नहीं" ऐसा पूछने पर भगवान् (इसीलिए) मौन हो गए ॥७३॥

भगवान् बुद्ध सर्वज्ञ हैं– ऐसा विद्वानों द्वारा इसलिए जाना जाता हैं, क्योंकि उन्होंने धर्म की इस गम्भीरता का प्रकाशन अपात्र (अयोग्य) जनों में नहीं किया ॥७४॥

इस प्रकार का यह नैःश्रेयस धर्म सर्वदर्शी सम्यक् सम्बुद्धों द्वारा (शाश्वत और उच्छेद रहित होने से) गम्भीर, परिग्रह (अन्तग्राह) से रहित एवं आलय (स्वतः सत्ता के प्रति आसक्ति) से रहित हैं– ऐसा कहा गया हैं ॥७५॥

इस अनालय (स्वतः सिद्ध आधार से रहित) धर्म से भयभीत, आलय (स्वतः सिद्ध आश्रय) में अभिनिविष्ट अज्ञानी लोग 'अस्ति' और 'नास्ति' (कोटियों) का अतिक्रमण न करते हुए नष्ट होते हैं ॥७६॥

निर्भयता के स्थान पर (बेवजह) डरने वाले वे लोग (स्वयं) तो नष्ट होते ही हैं, साथ ही, अन्यों को भी नष्ट करते हैं । (इसीलिए) हे राजन् ! वैसा कीजिए जिससे आप नष्टों के द्वारा नष्ट न किए जा सकें ॥७७॥

तुम्हारे अविनाश के लिए हे राजन्, मैं अद्वयनिश्रित लोकोत्तर नय को आगम के अधिकार से यथावत् कहूँगा ॥७८॥

पुण्य और पाप से अतिक्रान्त, गूढ, अथ च अच्छी तरह से प्रकाशित अर्थों वाला (यह धर्म) आलम्बनहीनता (शून्यता) से भयभीत तैर्थिक और स्वयूथ्यों द्वारा अज्ञात हैं ॥७९॥

(जब) पुरुष न पृथ्वी हैं, न जल हैं, न अग्नि हैं, न वायु हैं, न आकाश, न विज्ञान हैं और न सब का समूह ही हैं, तो तदतिरिक्त पुरुष कौन हैं ?॥८०॥

जैसे षड् धातुओं का समूह (प्रज्ञप्तमात्र) होने से तत्त्वतः पुरुष नहीं हैं । वैसे ही प्रत्येक धातु भी (अपने अवयवों का) सङ्ग्रह (मात्र) हैं, अतः तत्त्वतः नहीं हैं ॥८१॥

स्कन्ध आत्मा नहीं हैं, न आत्मा में स्कन्ध हैं, न स्कन्धों में आत्मा हैं और न स्कन्धों के विना आत्मा हैं, ये स्कन्ध और आत्मा अग्नि और इन्धन की तरह संश्लिष्ट (भी) नहीं हैं, अतः आत्मा कैसे (सिद्ध) हैं ?॥८२॥

तीनों भूत (अप्, तेजस् और वायु) पृथ्वी नहीं हैं, इस (पृथ्वी) पर (तीन भूत आश्रित) नहीं हैं और न उन (तीनों भूतों) पर यह (पृथ्वी) हैं और न उनके बिना (केवल पृथ्वी की स्थिति) हैं । हर एक भी उसी की भाँति हैं, अतः सभी भूत भी आत्मा की तरह अनृत हैं ॥८३॥

पृथ्वी, अप, तेजस् और वायु (इनमें) प्रत्येक भी स्वभावतः (सत्) नहीं हैं क्योंकि तीन के अभाव में एक नहीं हैं और एक के अभाव में भी तीन नहीं हैं ॥८४॥

यदि तीन (महाभूतों) के अभाव में प्रत्येक (महाभूत) नहीं हैं और एक के अभाव में तीनों नहीं हैं, तो उनके पृथक् पृथक् स्वतः नहीं होने से समूह की भी उत्पत्ति कैसे होगी ?॥८५॥

यदि प्रत्येक का स्वतः अस्तित्व हैं (अतः समूह भी स्वतः सिद्ध हैं ऐसा माने) तो इन्धन के अभाव में अग्नि क्यों नहीं होती । उसी प्रकार ईरण (लघुता), संग्रह और संघट्टन (कर्म वाले) वायु, जल तथा पृथ्वी (महाभूत) हैं ॥८६॥

यदि अग्नि (का विना इन्धन के उत्पन्न न होना) प्रसिद्ध हैं (किन्तु अन्य तीन ऐसे प्रसिद्ध नहीं हैं) तो कैसे अन्य तीन स्वतः सिद्ध होंगे ? (क्योंकि) इनमें प्रतीत्यसमुत्पाद धर्म को प्रतिकूलता उचित नहीं हैं ॥८७॥

यदि प्रत्येक को स्वतः (निरपेक्ष) सत्ता हैं तो उनमें परस्पराश्रितत्व कैसे होगा ? यदि प्रत्येक को स्वतः सत्ता नहीं हैं तो भी उनमें परस्पराश्रितत्व कैसे होगा ?॥८८॥

पृथक्तया स्वतः सत्ता भले ही न हो फिर भी यदि (ऐसा कहें कि) जहाँ एक हैं वहाँ शेष भी हैं, तो जो श्लिष्ट (मिश्रित) नहीं हैं, वे एक जगह स्थित नहीं हो सकते, और जो मिश्रित हैं वे पृथक् स्थित नहीं हो सकते ॥८९॥

विना पृथक् स्वभाव के भूतों के अपने स्वलक्षण कैसे हो सकेंगे ? (क्योंकि भूतों को पृथक् स्वसत्ता हैं ही नहीं । यदि वस्तुवादी कहें कि भूत मिश्रित होने पर भी उनमें न्यूनाधिक्य दिखाई देता हैं तो) आधिक्य भी सम्भव नहीं हैं (क्योंकि वे) स्वतः असिद्ध हैं । (भगवान् ने अभिधर्म में जो लक्षण बताए हैं) वस्तुतः ये लक्षण सांवृतिक दृष्टि से हैं ॥९०॥

वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श इनमें भी यही नय (लागू) हैं । चक्षुष्, विज्ञान, रूप, अविद्या, कर्म, जन्म : ॥९१॥

कर्ता, कर्म, क्रिया, संख्या, हेतु, फल, योग, काल, ह्रस्व, दीर्घ आदि (सभी) ज्ञेय तथा नाम और संज्ञी (सभी) उसी तरह हैं ॥९२॥

पृथिवी, जल, तेजस्, वायु, दीर्घ, ह्रस्व, सूक्ष्म, स्थूल तथा कुशलादि (आर्य के समाहित) विज्ञान में निरुद्ध होते हैं– ऐसा मुनि ने कहा हैं ॥९३॥

विज्ञान अनिदर्शन, अनन्त और सब (धर्मों) का अधिपति हैं । पृथ्वी, जल, तेजस् और वायु किसी को भी (उसमें) उपलब्धि नहीं होती हैं ॥९४॥

इसी (ज्ञान) में दीर्घ, ह्रस्व, सूक्ष्म, स्थूल, कुशल, अकुशल तथा नाम और रूप सभी अशेष रूप से निरुद्ध हो जाते हैं ॥९५॥

जिस (निःस्वभावता) को न जानने के कारण (जो) सभी पहले विज्ञान में समुत्पन्न हैं, वे सभी उस (निःस्वभावता) को जान लेने पर बाद में (उसी) विज्ञान में उसी प्रकार निरुद्ध हो जाते हैं ॥९६॥

ये सारे जगद्धर्म विज्ञानाग्नि के इन्धन हैं– ऐसा माना गया हैं । यथार्थ–विवेचिका अर्चिष् से युक्त (ज्ञान) के द्वारा दग्ध होने पर उनका शमन हो जाएगा ॥९७॥

अज्ञानवश जो पहले (सस्वभाव रूप में) कल्पित किये जाते हैं, वे जब तत्त्व (शून्यता के) अर्थ का निर्णय होने पर बाद में भाव के रूप में (ही) उपलब्ध नहीं होते, तो ऐसी स्थिति में अभाव भी (स्वभावतः) कहाँ हैं ॥९८॥

रूप के अभावमात्र होने से आकाश (रूपाभाव) भी नाममात्र हैं । भूतों के विना रूप कहाँ ? (नाम का आधार नामी नहीं हैं) अतः नाममात्र भी (स्वभावतः) नहीं हैं ॥९९॥

वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान (के स्वतः अस्तित्व) का भी भूतों की भाँति और आत्मा की भाँति चिन्तन करना चाहिए, अतः छहों धातुएँ निरात्मक हैं ॥१००॥

रत्नावली में अभ्युदय और निःश्रेयसोपदेश नामक प्रथम
परिच्छेद समाप्त ।

द्वितीय परिच्छेद

जिस प्रकार सभी अङ्गों के साथ उत्पाटित किए जाने पर केले (वृक्ष) का कुछ भी नहीं बचता हैं, उसी प्रकार धातुओं के साथ विश्लेषण करने पर पुरुष (नाम का पदार्थ) कुछ भी अवशिष्ट नहीं रहता हैं ॥१॥

"सभी धर्म अनात्म हैं" ऐसा बुद्धों ने कहा हैं और उनके द्वारा सभी छः धातुओं का निर्णय भी किया गया हैं कि वे तत्त्वतः नहीं हैं ॥२॥

इस प्रकार आत्मा और अनात्मा यथार्थतः उपलब्ध नहीं होते, (अतः) महामुनि (बुद्ध ने) आत्मा और अनात्मा से सम्बद्ध (सभी) दृष्टियों को निवारित किया ॥३॥

मुनि ने दृष्ट, श्रुत आदि को न सत्य कहा हैं और न मृषा, क्योंकि पक्ष के होने से प्रतिपक्ष होता हैं, अतः वे दोनों ही वस्तुतः नहीं हैं ॥४॥

इस तरह यह लोक परमार्थतः सत्य और अनृत (मिथ्या) से अतीत हैं । अत एव (भगवान् बुद्ध) ने तत्त्वतः सत् और असत् (किसी को भी) स्वीकार नहीं किया ॥५॥

इस प्रकार जो सर्वथा नहीं हैं, उसको सर्वज्ञ (भगवान् बुद्ध) सान्त या अनन्त, दोनों हैं या दोनों नहीं हैं—ऐसा कैसे कहेंगे ॥६॥

अगणित बुद्ध (अतीत काल में) आए, (भविष्य में) आएंगे और वर्तमान में भी हैं । उससे करोड़ों अधिक सत्त्व हैं, उनके हित के लिए तीनों कालों में (बुद्ध) की उत्पत्ति मानी जाती हैं ॥७॥

सत्त्वों की (संख्या में) वृद्धि का कोई कारण नहीं हैं और क्षय तीनों कालों में सम्भव हैं, (अर्थात् बुद्धत्व प्राप्त होने पर सत्त्वों की संख्या घटती रहती हैं) तो सर्वज्ञ ने उसका आदि और अन्त क्यों नहीं कहा ?॥८॥

जो यह धर्म की गम्भीरता हैं, वह पृथग्जनों (जिनकी बुद्धि अभी अपरिपक्व हैं, उन) के लिए गुह्य हैं । लोक की मायोपमता (मायासदृशता ही) बुद्धों के शासन का अमृत (सार) हैं ॥९॥

जिस तरह मायागज का जन्म और अन्त देखा ही जाता हैं । (परन्तु) तत्त्वतः उसका न जन्म होता हैं न कहीं अन्त ही ॥१०॥

उसी तरह मायासदृश इस लोक का भी जन्म और अन्त दिखलाई पड़ता हैं, किन्तु परमार्थतः जन्म और अन्त होते ही नहीं ॥११॥

जिस तरह मायागज न कहीं से आता हैं और न कहीं पर जाता हैं (परन्तु) चित्त के मोह मात्र से (गमनागमन की प्रतीति होती) हैं, अतः वास्तव में उसकी सत्ता नहीं हैं ॥१२॥

उसी तरह मायासदृश (यह) लोक (भी) न कहीं से आता हैं न कहीं जाता हैं (परन्तु ऐसा) चित्त के मोह मात्र से होता हैं । अतः तत्त्वतः उसकी सत्ता नहीं होती ॥१३॥

इस प्रकार (पूर्वोक्त युक्तियों के अनुसार) तीनों काल से अतिक्रान्त लोक अर्थतः हैं ही कहाँ ? (क्योंकि) जो (वस्तु इस समय) विद्यमान हैं अथवा (नष्ट होकर) अविद्यमान हैं, व्यावहारिक सत्ता के अतिरिक्त (उसका अस्तित्व) नहीं हैं ॥१४॥

भगवान् बुद्ध ने इसी कारण से सान्त, अनन्त, द्वय और अद्वय इन चार प्रकारों को अव्याकृत किया, न कि अन्य (कारणों) से ॥१५॥

इस शरीर की अशुचिता स्थूल और प्रत्यक्षगोचर हैं तथा हमेशा दिखलाई पड़ती हैं, फिर भी जब मन में नहीं उतरती हैं (अर्थात् इसका वास्तविक ज्ञान नहीं होता हैं) ॥१६॥

तब अतिसूक्ष्म, अप्रत्यक्ष, गम्भीर और अनालय धर्म किस तरह मन में आसानी से उतर सकेगा ? ॥१७॥

अतिगम्भीर होने के कारण लोगों के लिए इस धर्म को दुर्बोध जानकर भगवान् बुद्ध बुद्धत्व-प्राप्ति के बाद इस धर्मदेशना से निवृत्त हो गये ॥१८॥

यह धर्म गलत ढंग से जान लेने पर अपण्डितों को नष्ट कर देता हैं, क्योंकि वे नास्तिता दृष्टि से समल (मिथ्या ज्ञान) में निमग्न होते हैं ॥१९॥

दूसरा भी इसका गलत ढंग से ज्ञान होने पर (धर्म की) अवहेलना करने से विनष्ट स्वभाव वाला पण्डितमानी मूर्ख अधोमुख होकर अवीचि नामक नरक में पतित हो जाता हैं ॥२०॥

जिस प्रकार अन्न का ठीक तरह से उपभोग न करने पर (प्राणी) विनाश को प्राप्त होता हैं और ठीक तरह से उपभोग करने पर आयु, आरोग्य, बल और सुख को प्राप्त करता हैं, ॥२१॥

उसी तरह (शून्यता) के विपरीतज्ञान से विनाश को प्राप्त करता हैं तथा उसके सम्यग्ज्ञान से (व्यक्ति) सुख तथा अनुत्तर बोधि प्राप्त करता हैं ॥२२॥

अतः यहाँ (शून्यता का) प्रतिक्षेप और नास्तिक दृष्टि को त्याग कर सर्वार्थ की सिद्धि-हेतु सम्यग्ज्ञान के लिए यत्न करें ॥२३॥

इस (शून्यता) धर्म के अपरिज्ञान से अहंकार का अनुवर्तन होता हैं, उससे शुभ और अशुभ कर्म तथा उससे अच्छा और बुरा जन्म होता हैं (अर्थात् संसार में भ्रमण होता रहता हैं) ॥२४॥

अतः जब तक अहंकार के विनाशक (इस) धर्म का ज्ञान नहीं होता तब तक दान, शील और क्षमा धर्मों में आदर से युक्त हों ॥२५॥

हे राजन्, धर्म हैं जिसके पूर्व में, धर्म हैं जिसके मध्य में और धर्म हैं जिसके अन्त में ऐसे कार्यों का सम्पादन करता हुआ (व्यक्ति) न इस लोक में दुःख प्राप्त करता हैं और न परलोक में ॥२६॥

धर्म से यश और सुख होते हैं, न यहाँ भय होगा न मरते समय । परलोक में विपुल सुख होता हैं । अतः सदा धर्म का सेवन करें ॥२७॥

धर्म ही परम नीति हैं, धर्म से लोक प्रसन्न होता हैं । लोक के प्रसन्न होने से न यहाँ (इस लोक में) और न वहाँ (परलोक में व्यक्ति) वंचित होता हैं ॥२८॥

जो नीति अधर्म से युक्त होती हैं, उससे लोक अप्रसन्न होता हैं । लोक की अप्रसन्नता से न यहाँ (इस लोक में) आनन्द मिलेगा न वहाँ (परलोक में) ॥२९॥

दुष्ट बुद्धि वालों के द्वारा संरचित दूसरों को ठगने वाली कष्टदायिनी और दुर्गति में ले जाने वाली अनर्थविद्या कैसे अर्थविद्या बना दी गई ॥३०॥

दूसरों को ठगने वाला (व्यक्ति) वास्तव में कैसे नीति वाला हो सकता हैं, जिसके द्वारा हजारों जन्मों से स्वयं अपनी आत्मा ही ठगी जा रही हैं ॥३१॥

यदि शत्रु की बुराई चाहते हो तो दोषों को त्यागकर गुणों का सेवन करो । इससे तुमको अपने हित की प्राप्ति होगी और शत्रु का भी अप्रिय होगा ॥३२॥

दान, प्रियवचन, हित और एकार्थचर्या इनके द्वारा लोक तथा धर्म का संग्रह करो ॥३३॥

जैसे राजा का एक सत्य दृढ विश्वास उत्पन्न करता हैं, उसी प्रकार उनका झूठ भी परम अविश्वास का कारण होता हैं ॥३४॥

सत्य विसंवादी नहीं हैं तथा मन में आभासित अर्थ वस्तुतः सत्य नहीं हैं । जो निश्चित रूप से दूसरों का हितकारी हैं, वही सत्य हैं । इससे विपरीत (अहितकारी) मृषा हैं ॥३५॥

जैसे राजाओं का एक प्रशस्त त्याग दोषों को ढक देता हैं, उसी प्रकार उनकी कृपणता भी सभी गुणों को नष्ट कर देती हैं ॥३६॥

उपशान्त (शान्तेन्द्रिय वालों) को गम्भीरता (प्राप्त होती हैं), गम्भीरता से परम गौरव प्राप्त होता हैं, और गौरव से तेजस्विता तथा आदेश का प्रभाव होता हैं, अतः उपशम का सेवन करो ॥३७॥

प्रज्ञावान् होने से बहकाई नहीं जाने वाली बुद्धि वाला, दूसरों पर निर्भर न करने वाला और स्थिर राजा ठगा नहीं जाता, अतः प्रज्ञा की प्राप्ति के लिए तत्पर रहो ॥३८॥

सत्य, त्याग, शम और प्रज्ञा इन चार भद्रों से युक्त राजा चतुर्भद्र धर्म की भाँति देवों और मनुष्यों द्वारा प्रशंसित होता हैं ॥३९॥

हितवादी, शुद्ध (काय-वाक्-चित्त वाले), ज्ञानवान्, कारुणिक और निर्मल (मल से रहित सत्पुरुषों) के साथ सम्पर्क रखने वाले के ज्ञान तथा धर्म निरन्तर बढ़ते रहते हैं ॥४०॥

हित को बतलाने वाले दुर्लभ हैं, (हित को) सुनने वाले और भी दुर्लभ हैं, और उससे भी अधिक दुर्लभ वे हैं जो पथ्य का शीघ्र सम्पादन करते हैं ॥४१॥

अतः अप्रिय होने पर भी हितकारी (वचन) को जानकर शीघ्र ही तदनुसार आचरण करो, जैसे कि अपना हित चाहने वाला अत्यन्त कटु औषध को भी नीरोगता के लिए पी लेता हैं ॥४२॥

जीवन, आरोग्य और राज्य की अनित्यता का सदा चिन्तन करें । उससे संवेगवान् होकर एकान्ततः धर्म के लिए प्रयास करोगे ॥४३॥

मृत्यु को अवश्यम्भावी और मरे हुए (मृतक) को पाप से होने वाले दुःखों को देखते हुए इस लोक के सुख के लिए भी तुमको पाप नहीं करना चाहिए ॥४४॥

यदि किसी में किसी समय भय नहीं देखा और किसी में भय देखा तो यदि एक पर आश्वासन हो जाता हैं तो क्या दूसरे पर तुमको भय नहीं होता ?॥४५॥

मद्य से लोक में तिरस्कार होता हैं, कार्य की हानि होती हैं, धन का क्षय होता हैं तथा मोहवशात् अकरणीय कार्य को करता हैं, अतः उसको सदा के लिए त्याग दें ॥४६॥

द्यूत (जुआ खेलना) राग, अरति, द्वेष, शाठच, माया और औद्धत्य का स्थान तथा मृषा, प्रलाप और पारुष्य का हेतु हैं । अतः इसे सदा के लिए त्याग दें ॥४७॥

स्त्री के प्रति राग अधिकांशतः स्त्री के शरीर में शुचि देखने से होता हैं । नारी के शरीर में वस्तुतः अल्पमात्र भी शुचिता नहीं हैं ॥४८॥

मुख सड़ी हुई लार एवं दन्तमल का पात्र हैं, नाक श्लेष्मा और नाक के स्राव का पात्र हैं तथा आँख चक्षुर्मल और आँसू का पात्र हैं ॥४९॥

पेट के गह्वर को विष्ठा, मूत्र, फेफड़े, तिल्ली आदि का पात्रभूत न देखकर (व्यक्ति) नारी के शरीर पर मोहवश आसक्त होता हैं ॥५०॥

जिस तरह कोई अज्ञानी अलङ्कृत मलिन घट में अनुरक्त होता हैं, उसी तरह (रागवान्) अज्ञानी मोह से स्त्रियों में (अनुरक्त) होते हैं ॥५१॥

अत्यन्त दुर्गन्धि का विषय शरीर जो कि वैराग्य का कारण हैं, उसमें भी लोग अनुरक्त हों तो किसके द्वारा वैराग्य पर ले जाया जा सकता हैं ?॥५२॥

जिस तरह विष्ठा और मूत्र की राशि में और वान्त (वमन) में सुअर अनुरक्त होता हैं, उसी प्रकार विष्ठा और मूत्र के ढेर (स्वरूप शरीर) में वान्तप्रिय शूकर की भाँति रागी व्यक्ति आसक्त होते हैं ॥५३॥

यह शरीर-रूपी नगर गंदगी निकालने वाले छिद्रों से अन्वित हैं, (तथापि) मूर्ख पुरुषों के द्वारा सुख के लिए उपचरित हैं ॥५४॥

विष्ठा, मूत्र आदि एक एक को स्वयं गन्दा देखने पर भी तुम्हारे लिए इन सबका ढेर यह शरीर कैसे मनोज्ञ (रुचिकर) हो जाता हैं ?॥५५॥

(यह शरीर) शुक्र और रक्त के सम्पर्क से बने बीज से उत्पन्न तथा पुरीष और मूत्र से वर्धित हैं । इसके अशुचि स्वरूप को जानते हुए (भी) इसमें किस इच्छा से आसक्त हो रहे हो ?॥५६॥

गीले चमड़े से ढके हुए अशुचि के ढेर में जो शयन करे, वही नारी की जांघों के मध्य भाग में शयन करें ॥५७॥

सुरूप हो या कुरूप, वृद्धा हो या कुमारी हो, नारियों का रूप सर्वथा अपवित्र (ही) हैं । फिर किस विशिष्टता के कारण तुम्हारा राग उसमें उत्पन्न होता हैं ॥५८॥

अमेध्य चाहे सुन्दर, वर्णवान्, अत्यन्त नवीन एवं सुन्दर आकार वाला भले ही हो, फिर भी उसमें जैसे राग युक्त नहीं हैं, उसी तरह नारी के रूप में भी युक्त नहीं हैं ॥५९॥

भीतर से सड़े हुए, बाहर से चर्म से ढंके हुए, कुणप स्वभाव वाले, अत्यन्त घोर रूप में आभासित हो रहे इस (शरीर) को किस कारण नहीं देखते हो ?॥६०॥

यह चर्म भी अपवित्र नहीं हैं (क्योंकि) वस्त्र की तरह हैं- ऐसा कहें तो अमेध्य के ढेर के आवरण की भाँति (वह) किस प्रकार पवित्र हो सकता हैं ?॥६१॥

विष्ठा से पूर्ण घट बाहर से चित्रित होने पर भी निन्दनीय हैं; तो अपवित्र स्वभाव वाला शरीर गन्दगी से भरा हुआ क्यों निन्दनीय नहीं होगा ?॥६२॥

यदि तुम अशुचि की निन्दा करते हो तो पवित्र गन्ध, माला और खानपान को अपवित्र करने वाले इस शरीर की क्यों निन्दा नहीं करते हो ?॥६३॥

जिस तरह अपना और दूसरों का अमेध्य निन्दनीय होता हैं, उसी तरह अपने तथा दूसरों के इस अशुचि शरीर की क्यों निन्दा नहीं की जाती ?॥६४॥

जिस तरह नारी का शरीर अपवित्र हैं उसी तरह तुम्हारा अपना शरीर भी हैं । अतः भीतर और बाहर दोनों के प्रति वैराग्य क्या उचित नहीं हैं ?॥६५॥

नौ व्रणों से चू रहे अपने ही सामने प्रत्यक्षतः अतिसरण कर रहे भी शरीर का अशुचि के रूप में अवबोध न हो तो तुमको (यह सब) कहने से क्या लाभ ?॥६६॥

जो इस पूति काय की प्रशंसा में काव्य की रचना करते हैं, उनकी धृष्टता, मूर्खता और लोक के प्रति निर्लज्जता (या तिरस्कार) के लिए खेद हैं ॥६७॥

अज्ञान के अन्धकार से आवृत प्राणी अधिकांशतः काम के लिए कलह करते हैं, जिस तरह अमेध्य के लिए कुत्ते (कलह करते) हैं ॥६८॥

पामा (चर्मरोगविशेष) के खुजलाने से सुख होता हैं, (परन्तु) उससे भी अधिक सुख पामा का न होना हैं । उसी तरह लोक काम से युक्त होने पर (कामाचार के उपभोग से) सुख का अनुभव करता हैं, (परन्तु) काम के अभाव में उससे भी अधिक सुख हैं ॥६९॥

इस तरह विचार करने पर यदि तुम में वैराग्य सिद्ध न भी हो, तथापि राग के दुर्बल हो जाने से स्त्री में आसक्ति नहीं होगी ॥७०॥

शिकार करना अल्प आयुष्ट्व, भय, दुःख और नरक का घोर कारण हैं, अतः अहिंसा को दृढ करें ॥७१॥

जिस तरह अशुचि से लिप्त समस्त अङ्गों वाला सर्प भयङ्कर होता हैं, उसी तरह जिसके सम्पर्क से लोक भयभीत होता हैं वह कुत्सित होता हैं ॥७२॥

जिस तरह वर्षा के महामेघ के उठने पर कृषकलोक (प्रसन्न होता) हैं, उसी तरह जिससे लोक प्रमुदित होता हैं, वह भद्र हैं ॥७३॥

अतः अधर्म का त्याग करके जागरूक रहते हुए धर्म का सेवन करो । यदि स्व (अपनी) और पर (प्राणिमात्र) की अनुत्तर (सम्यक्) संबोधि की (तुममें) कामना हैं, तो : ॥७४॥

इसका मूल हैं– पर्वतेन्द्रराज की तरह दृढ बोधिचित्त, दिशाओं के अन्त तक व्याप्त करुणा और अद्वयनिश्रित ज्ञान ॥७५॥

महाराज, महापुरुषों के बत्तीस लक्षणों से जिस तरह तुम्हारा शरीर अलङ्कृत हो जाए, उस प्रकार (के कर्मों को) सुनें ॥७६॥

चैत्य, पूज्य जन, आर्य और वृद्धों के सत्कार से तुम श्रीचक्र से अङ्कित पाणि और पाद वाले चक्रवर्ती होओगे ॥७७॥

राजन्, सदा दृढतापूर्वक धर्म का समादान करो, इससे तुम सुप्रतिष्ठितपादता से युक्त बोधिसत्त्व होओगे ॥७८॥

दान, प्रियवचन, हितचर्या और एकार्थचर्या के कारण तुम जाल से अवनद्ध अङ्गुलि वाले श्रीहस्त से युक्त होओगे ॥७९॥

अत्यधिक श्रेष्ठ खाद्य और पेय पदार्थों के दान से हस्त और पाद कोमल होंगे तथा सात उच्छ्रायों (उभरे हुए स्थानों) से युक्त (दो हाथ, दो पाद, दो स्कन्ध और ग्रीवा- पृष्ठ) बृहत् काय होगा ॥८०॥

अहिंसा और वध्य को मुक्त करने से सुन्दर, सीधा और बृहद् शरीर प्राप्त होगा तथा तुम लम्बी अंगुलिवाले, लम्बी उम्रवाले और विशाल एड़ी से युक्त होओगे ॥८१॥

समादान किए हुए धर्मों का संवर्धन करने से अच्छा वर्ण, पाद में ढके हुए (मांसल) टखने तथा ऊपर की ओर मुड़े हुए रोम होंगे ॥८२॥

विद्या, शिल्प आदि के स्थानों के सत्कारपूर्वक आदान-प्रदान से तुम में तीक्ष्ण बुद्धि एवं महती प्रज्ञा होगी तथा एण (मृगविशेष) की जंघाओं के समान तुम्हारी जंघाएं होंगी ॥८३॥

अपने धन को मांगने पर तुरन्त देने के व्रत से महाबाहु, सुखी और लोक के विनेता होओगे ॥८४॥

परस्पर विभक्त हो गए मित्रबन्धुओं में भलीप्रकार समझौता कराने से कोशावनद्ध बस्तिगुह्य वाले होओगे ॥८५॥

सुखदायक अच्छे बिछौने, प्रासाद और आभूषण के उत्तम दान से सुश्लक्ष्ण, निर्मल और तप्तकाञ्चन के समान वर्ण वाले होओगे ॥८६॥

अनुत्तर आधिपत्य के दान से तथा गुरु का सम्यग् अनुसरण करने से (एक एक छिद्र में) एक एक रोम तथा मुख ऊर्णा से अलङ्कृत होगा ॥८७॥

प्रियवादित्व, सुभाषित और आनन्दप्रद वाणी के प्रयोग (अनुसरण) से तुम्हारे स्कन्ध सुसंवृत (गोलाकार) तथा काय का ऊपरी भाग सिंह के समान होगा ॥८८॥

रोगियों की परिचर्या और पोषण करने से चितान्तरांसता (दोनों स्कन्धों का मध्य भाग भरा रहना) प्रकृतिस्थता और श्रेष्ठ रसानुभव होंगे ॥८९॥

धार्मिक कार्यों में प्राथमिकता देने से तुम्हारे शिरस् में उष्णीष सुस्थित होगा और (काय) न्यग्रोध की भाँति मण्डलाकार होगा ॥९०॥

नरेश ! दीर्घ काल तक सत्य एवं श्लक्ष्ण वचन कहने से विशाल जिह्वता और ब्रह्मस्वरता प्राप्त होंगी ॥९१॥

सदा निरन्तर सत्य कहने से तुम्हारी हनु सिंह की भाँति होगी तथा उत्कट दुर्धर्षता होगी ॥९२॥

विशेष सम्मान और सत्कार तथा यथोचित अनुवृत्ति करने से शुक्लदन्तता, शोभनवर्णदन्तता और समदन्तता होंगी ॥९३॥

सत्य और पैशुन्य से रहित वचन का चिरकाल तक अभ्यास होने से सुशोभित दन्त पूरे चालीस, समान तथा अविरल होंगे ॥९४॥

अराग, अद्वेष, अमोह और मैत्री के द्वारा सत्त्वों को देखने से स्निग्ध अभिनील चक्षु, गाय के पक्ष्म और नेत्र के समान पक्ष्म और नेत्र होंगे ॥९५॥

इस तरह संक्षेप में हेतुसहित बत्तीस महापुरुषसिंहों के लक्षणों को अच्छी तरह समझिए ॥९६॥

राजन् ! मैत्री के निष्यन्द से उत्पन्न अस्सी अनुव्यञ्जन ग्रन्थ के विस्तार के भय से तुमसे नहीं कहे गये हैं ॥९७॥

सारे चक्रवर्तियों में इनका अस्तित्व तो माना जाता हैं परन्तु शुद्धता, सुन्दरता और स्पष्टता में बुद्धों की आंशिक तुलना भी नहीं की जा सकती ॥९८॥

चक्रवर्ती का प्रत्येक लक्षण और व्यञ्जन मुनीन्द्र के प्रति श्रद्धा के एक अङ्ग से उत्पन्न कहा गया हैं ॥९९॥

एक सौ कोटि कल्प तक संचित किये गये कुशल से भी बुद्ध का एक रोमकूप भी उत्पन्न नहीं किया जा सकता ॥१००॥

अवभासित करने की दृष्टि से अनेकों सूर्य और जुगनुओं में जिस प्रकार लेशमात्र की समानता हैं, उसी प्रकार की समता बुद्धों और चक्रवर्ती राजाओं के लक्षणों में भी हैं ॥१०१॥

॥ रत्नावली में संश्लेषोपदेश नामक द्वितीय परिच्छेद समाप्त ॥

तृतीय परिच्छेद

महाराज ! अचिन्तनीय पुण्य से जिस प्रकार बुद्ध के लक्षण उत्पन्न होते हैं, उन्हें महायान के महान् आगमों के अनुसार सुनिए ॥१॥

सारे प्रत्येकबुद्धों से उत्पन्न, शैक्ष तथा अशैक्ष से उत्पन्न और अशेष जगत् के समस्त पुण्य जो लोकों की भाँति अमेय हैं ॥२॥

उनके दस गुने से एक रोमकूप सिद्ध होता हैं । बुद्ध के सारे रोमकूप उसी तरह से होते हैं ॥३॥

समस्त रोमकूपों को उत्पन्न करने वाले जो पुण्य हैं उनके सौ गुने से एक भद्र अनुव्यञ्जन (उत्पन्न) माना जाता हैं ॥४॥

राजन् ! उतने उतने पुण्य से एक भद्र अनुव्यञ्जन निष्ठागत होता हैं, इसी तरह अस्सी तक उत्पन्न होंगे ॥५॥

अस्सी अनुव्यञ्जनों की सिद्धि के लिये जो पुण्यसम्भार हैं उनके सौ गुने से महापुरुष का एक लक्षण (सिद्ध) होता हैं ॥६॥

तीस लक्षणों की सिद्धि का हेतुभूत जो उदारपुण्य हैं उसके सहस्र गुने से पूर्ण चन्द्रमा की भाँति ऊर्णा होगी ॥७॥

ऊर्णा के पुण्यों के शतसहस्र योग से रक्षक का उष्णीष उत्पन्न होगा जिसका मूर्धा (आखिरी छोर) देखा नहीं जाता ॥८॥

उष्णीष के पुण्यों की कोटि (करोड़) के सौ लाख गुने से दशबलवान् (बुद्ध) के एक धर्मशङ्ख उत्पन्न होता हैं ऐसा जानना चाहिए ॥९॥

दश दिशाओं के स्पर्श के योग से जैसे सम्पूर्ण लोक का माप सूचित होता हैं, उसी तरह अमेय पुण्य भी परिमाण के लेश द्वारा सूचित किया जाता हैं ॥१०॥

जब बुद्ध के रूपकाय का हेतु भी (अनन्त) लोक की भाँति अमेय होता हैं तब धर्मकाय के हेतु का माप कैसे हो सकता हैं ॥११॥

सभी महान् फल जब छोटे कारणों से उत्पन्न होते हैं तो अमेय बुद्धहेतु से फल की मेयता अचिन्त्य हैं ॥१२॥

राजन्, बुद्धों का रूपकाय तो पुण्यसम्भार से उत्पन्न होता हैं तथा धर्मकाय तो समासतः ज्ञान-सम्भार से उत्पन्न होता हैं ॥१३॥

अतः ये दो सम्भार बुद्धत्व-प्राप्ति के कारण हैं । इस तरह सक्षेप में, इन पुण्यों और ज्ञान का सदा सेवन करें ॥१४॥

युक्ति और आगमों में निर्दिष्ट एवं आश्वासन देने वाले इन कारणों की वजह से बोधि के साधन इस पुण्य में उदासीनता नहीं बरतनी चाहिए ॥१५॥

सारी दिशाओं में जिस तरह आकाश, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु अनन्त हैं, उसी तरह दुःखी प्राणी (भी) अनन्त हैं ॥१६॥

बोधिसत्त्व की अनुकम्पा से उन अनन्त सत्त्वों का दुःखों से उद्धार करके बुद्धत्व में स्थापित किया जाना निश्चित हैं ॥१७॥

उस तरह दृढ रूप से (बोधिचित्त पर) स्थित वह (बोधिसत्त्व) चाहे जागा हो या सोया भी हो (प्रतिज्ञा) ग्रहण करने के बाद प्रमाद होने पर भी सत्त्वों के ॥१८॥

अनन्त होने से सत्त्वों की भाँति अनन्त पुण्य का सदा सञ्चय करेगा । (उन कारणों के) अनन्त होने से अनन्त बुद्धत्व की प्राप्ति कठिन नहीं हैं– ऐसा जानना चाहिए ॥१९॥

जो (बोधिसत्त्व) अप्रमेय सत्त्वों (को संसार से मुक्त करने) के लिए अप्रमेय बोधि की अभिलाषा रखकर अप्रमेय काल तक (संसार में) रहकर अप्रमेय पुण्य करता हैं ॥२०॥

उसके लिए (सामान्यतः) बोधि अप्रमेय होने पर भी चार प्रकार के अप्रमेय सम्भारों के द्वारा अविलम्ब ही कैसे प्राप्त नहीं होगी ?॥२१॥

अनन्त पुण्य और अनन्त ज्ञान से शारीरिक और मानसिक दुःखों का शीघ्र ही निराकरण होता हैं ॥२२॥

पाप से दुर्गति, क्षुधा, तृषा आदि शारीरिक दुःख होंगे (परन्तु) उस (बोधिसत्त्व) के द्वारा पाप न करने से और पुण्य से अन्य भवों (दूसरे जन्मों) में वह (दुःख) नहीं होगा ॥२३॥

मोह के कारण राग, द्वेष, भय, काम आदि मानसिक दुःख होता हैं, उस (बोधिसत्त्व) के द्वारा अनालय (शून्यता) के ज्ञान से उसका शीघ्र ही प्रहाण कर दिया जाता हैं ॥२४॥

(लोकहित के लिए समर्पित बोधिसत्त्व को) जब शारीरिक और मानसिक दुःखों से उस तरह तीव्र आघात नहीं होता हैं तब जगत् के अन्त तक वह लोक का नयन करे फिर भी खिन्न क्यों होगा ?॥२५॥

दुःखी के लिए अल्पकाल भी दुःसह होता हैं तो दीर्घकाल का तो कहना ही क्या । विना दुःख वाले सुखी (बोधिसत्त्व जो सहर्ष जगत् हित में लगे हैं) के लिए अनन्त काल भी क्या पीडित करेगा ?॥२६॥

उस (बोधिसत्त्व) को शारीरिक दुःख नहीं हैं तब मानसिक दुःख तो हैं ही कहाँ ? वह तो करुणावश लोक को दुःख (से पीडित देखकर) उसी के कारण दीर्घ काल तक (संसार में जगदुद्धार के लिए) रहता हैं ॥२७॥

अतः बुद्धत्व के लिए देरी लगेगी ऐसा मानकर धीमान् (पुरुष) विषण्ण न हो, (सम्पूर्ण) दोष के क्षय और गुणों (की प्राप्ति) के लिए इस (पुण्य और ज्ञान सम्भार के संचय) का सदा यत्न करें ॥२८॥

लोभ, मोह और द्वेष को दोष जानकर परित्याग करे तथा अलोभ, अमोह और अद्वेष को गुण जानकर आदरपूर्वक सेवन करें ॥२९॥

लोभ से प्रेत-लोक में जाता हैं, द्वेष से नरक में पतित होता हैं और मोह से प्रायः तिर्यग्-जगत् में जाता हैं । इन से विपरीत (अलोभ, अद्वेष और अमोह) से देवत्व और मनुष्यत्व प्राप्त होता हैं ॥३०॥

दोष का त्याग करना और गुण का ग्रहण करना आभ्युदयिक धर्म हैं तथा तत्त्वज्ञान से (उच्छेद और शाश्वत अन्त) ग्राहों का क्षय होना नैःश्रेयसिक धर्म हैं ॥३१॥

बुद्ध की प्रतिमा, चैत्य और विहारों को आदर के साथ अतिविस्तृत रूप से और महान् ऐश्वर्य से उन्हें पूर्ण शयनादि से सम्पन्न करें ॥३२॥

समस्त रत्नों से निर्मित बुद्ध के सुन्दर आकार की प्रतिमा को सुचित्रित पद्म पर बैठा हुआ बनाएं ॥३३॥

सद्धर्म, भिक्षु और संघ का यत्नपूर्वक पालन करें । चैत्यों पर सुवर्ण और रत्न-जालों को स्वयं ही लगावें ॥३४॥

सुवर्ण और रजत के फूल और वज्र, विद्रुम, मुक्ता, इन्द्रनील, वैडूर्य और महानील से चैत्यों का पूजन करें ॥३५॥

सद्धर्म भाणक का पूजन लाभ-सत्कार से युक्त (ऐसे) करें जो उनके लिए प्रिय हों तथा छह धर्मों का सेवन करें ॥३६॥

गुरु का सत्कार (उनसे) नम्रतापूर्वक श्रवण करना, सेवा और अभिवादन करना चाहिए तथा (अन्य) बोधिसत्त्वों की भी सदा आदरपूर्वक पूजा करनी चाहिए ॥३७॥

अन्य तैर्थिकों का आदरपूर्वक पूजन और नमस्कार न करें क्योंकि अज्ञानी लोक इस कारण दोषी के प्रति आसक्त हो जाएंगे ॥३८॥

मुनीन्द्र के वचन और उनसे उत्पन्न शास्त्रों को लिखना चाहिए तथा ग्रन्थ के पूर्वगामी कागज, स्याही और कलमों का दान करें ॥३९॥

ज्ञान की वृद्धि के लिए देश में पाठशालाओं के आचार्यों की जीविका के लिए क्षेत्रदान का निश्चय करें ॥४०॥

वृद्ध, बाल और रोगी लोगों के दुःखों के निराकरण हेतु देश में वैद्य एवं नाई को खेत की भृति देकर रखें ॥४१॥

भद्रप्रज्ञ ! अतिथिगृह, आरामस्थान, सेतु, तालाब सभामण्डप तथा आपान को शयन, अन्न, घास, और काष्ठ से युक्त करा दें ॥४२॥

सभी ग्रामों, विहारों और नगरों में सभामण्डप तथा जहाँ जल दुर्लभ हैं, उन रास्तों पर निपान बनावें ॥४३॥

रोगी, अनाथ, दुःख से पीड़ित, हीन तथा दीन जनों का करुणा से परिग्रहण करके पोषण के लिए इन (लोगों) की आदरपूर्वक सेवा करें ॥४४॥

मौसमी अन्न, पान, भोज्य, धान्य और फल जब तक भिक्षुओं और याचकों को न दिये जाएं तब तक स्वयं नहीं लेना चाहिए ॥४५॥

निपानों के समीप पादुका, छत्र, छननी, कांटा निकालने के लिए चिमटी, सूई, धागा और पंखा रखें ॥४६॥

त्रिफला, त्र्यूषण, घृत, मधु, अञ्जन (काजल) जांगुलि (विष को दूर करने वाली ओषधि) को निपान के समीप रखकर सिद्ध औषध और मन्त्र (जिसके जपने से रोग, विघ्न आदि का निवारण हों) भी लिखें ॥४७॥

हाथ, पाँव और सिर का विलेप, बालकों के लिए आसन और मौंड तथा घट, कड़ाही, कुल्हाड़ी आदि निपानों में रखवाएं ॥४८॥

तिल, चावल, धान्य, अन्न, गुड़ तैल से युक्त छोटे-छोटे निपानों (प्याऊ) को छाया में उचित पानी से भरवाया करें ॥४९॥

दृढाशय ! पिपीलिका के घर (बमीठे) के द्वार पर अन्न, जल, गुड़, धान्य की राशि सदा मनुष्यों से रखवाएं ॥५०॥

भोजन लेने के पूर्व और पश्चात् प्रेत, कुत्ता, पिपीलिका (चींटी), पक्षी आदि को सुविधानुसार हमेशा अन्न दिया करें ॥५१॥

अत्याचार, अपकार, दुर्भिक्ष (अकाल) और महामारी (से पीड़ित) तथा पराजित देश के लोगों को उदारता से अनुगृहीत करें ॥५२॥

बेचारे (साधनहीन) कृषकों को बीज और अन्न से अनुगृहीत करें, जबर्दस्ती लगाए गए करों को छोड़ दें या (उसके) भाग को कम कर दें ॥५३॥

ऋण से मुक्त करें, शुल्क को छोड़ दें या शुल्क कम करें, शुल्क के द्वारों (चुंगी) पर बैठने वालों के क्लेश से भी इन्हें निवृत्त करें ॥५४॥

स्वदेश और परदेश के चोरों का भी शमन करें वस्तुओं का मूल्य और लाभ उचित एवं समान (आनुपातिक) करें ॥५५॥

मन्त्री जो कुछ प्रार्थना करते हैं उसे आप स्वयं पूरी तरह जान कर जो लोक के हित में हैं उन सबको सदा करें ॥५६॥

जिस तरह अपने हित के लिए क्या क्या करें ऐसी आपकी कामना होती हैं, उसी तरह दूसरों के हित के लिए क्या क्या करें, ऐसी आप कामना करें ॥५७॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु, औषध और वन के वृक्ष के समान अपने को मुहूर्तमात्र के लिए ही क्यों न हो सबको यथेच्छ भोग करने दें ॥५८॥

सात कदम के समय में भी सर्वस्व त्याग करने का चित्त धारण करने वाले बोधिसत्त्वों का तो आकाश की भाँति अमेय पुण्य उत्पन्न होता हैं ॥५९॥

सुन्दर रूप वाली और अच्छी तरह से अलङ्कृत कन्या को उसे चाहने वाले को देने पर सद्धर्म को ग्रहण करने वाला धारणी को प्राप्त होगा ॥६०॥

सभी अलङ्कारों से युक्त अस्सी हजार कन्याओं को समस्त उपकरणों के साथ मुनि ने (भी) पूर्व (काल) में प्रदान किया था ॥६१॥

विभिन्न और भास्वर वस्त्र, अलङ्कार, गन्ध, माला तथा उपभोगों को प्रेम से याचकों को दें ॥६२॥

जो कोई धर्म और अर्थ के अभाव में अत्यन्त व्यथित हैं (उसके लिए) उस समय सुख प्रदान करें तो उससे श्रेष्ठ दान नहीं हैं ॥६३॥

जिसके लिए विष लाभप्रद होता हैं उसको विष भी देना चाहिए और (जिसके लिए) उत्तम भोजन भी लाभप्रद नहीं होता हैं उसको वह नहीं देना चाहिए ॥६४॥

जिस तरह सर्प से विषाक्त अङ्गुलि का काटना लाभदायक बताया जाता हैं उसी तरह मुनि ने परहित के लिए असुख भी करने को कहा हैं ॥६५॥

सद्धर्म का उपदेश करने वाले के प्रति उत्तम सत्कार का आचरण करना चाहिए तथा उस से श्रद्धापूर्वक धर्मश्रवण करके धर्मदान करना चाहिए ॥६६॥

लौकिक बातों (विषयों) में प्रमुदित न हों और लोकोत्तर (विषयों) पर प्रसन्न हों । जिस तरह आप अपने में, उसी तरह दूसरों में गुणों का उत्पाद करें ॥६७॥

(पूर्व) श्रुत धर्म से सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, अर्थ का ग्रहण और विवेचन तथा गुरु को दक्षिणा का दान सदा आदरपूर्वक करें ॥६८॥

लोकायत (चार्वाक) आदि (के ग्रन्थों) का पाठ न करें, अहंकार-विवर्धक विवाद का त्याग करें, अपने गुण की प्रशंसा न करें तथा शत्रु का भी गुणाख्यान करें ॥६९॥

मर्मघात न करें, दुर्भावना से दूसरों (के दोषों) का आलापन न करें तथा अपनी गलतियों का विवेचन करें ॥७०॥

जिस दोष के कारण पण्डित दूसरों की निन्दा करता है उसका अपने द्वारा पूर्णतया परिहार करना चाहिए तथा यत्नपूर्वक अन्यों को भी (उससे) निवृत्त करना चाहिए ॥७१॥

दूसरों के द्वारा हानि किये जाने पर पूर्व कर्मों का (फल) मानकर क्रोध न करें तथा पुनः दुःखों की उत्पत्ति न होने देने के लिए अपने दोषों का निराकरण करें ॥७२॥

प्रतिफल की अपेक्षा किए विना दूसरों का हित करें । दुःख को अकेला सहन करें तथा सुख को (अन्य) तदभिलाषी जनों के साथ भोग करें ॥७३॥

दिव्य सम्पत्ति (की प्राप्ति) से भी गर्व नहीं करना चाहिए और प्रेत की भाँति दरिद्रता की विपत्ति से भी दीन न हों ॥७४॥

जिस सत्य (को बोलने) से (चाहे) अपनी मृत्यु (ही क्यों न) हो जाए अथवा राज्य और स्वार्थ का नाश (ही क्यों न) हो जाए, उस सत्य को (अवश्य) सदा कहना चाहिए, उससे भिन्न (असत्य) को नहीं ॥७५॥

जैसा कहें उसके अनुसार करने के व्रत का सदा सेवन करें, उससे हे श्रीमन्, (आप) पृथ्वी पर परम प्रमाण होंगे ॥७६॥

भलीभांति परीक्षा करके तथा यथार्थ की प्रत्यवेक्षा करके ही तुम्हें (स्वयं) सभी कार्यों का सम्पादन करना चाहिए । (इसमें) दूसरों पर निर्भर नहीं होना चाहिए ॥७७॥

धर्म से राज्य सुखी होगा, सभी दिशाओं में कीर्ति का वितान खूब विस्तृत हो जाएगा तथा मन्त्रियों से भी विपुल सम्मान प्राप्त करोगे ॥७८॥

मृत्यु के कारण बहुत हैं और जीने के कारण कम ही हैं, और वे (जीने के कारण) ही मृत्यु के भी हैं अतः धर्म का सदा आचरण करें ॥७९॥

इस तरह सदा धर्माचरण किए जाने पर लोगों को और स्वयं अपने को जो सुख होता हैं वही पर्याप्ति हैं ॥८०॥

धर्म (के आचरण) से सुख से सोना, सुख से जागना तथा अन्तरात्मा के निर्दोष होने से सुख से स्वप्न देखना भी होता हैं ॥८१॥

माता-पिता की तत्परता के साथ सेवा, कुलज्येष्ठ का सत्कार, सम्पत्ति का सद्भोग, क्षमा, दान, मृदु वचन तथा सत्य वचन का : ॥८२॥

एक जन्म (तक) व्रत किया जाने पर देवों का आधिपत्य प्राप्त करके फिर भी (आप) देवेन्द्र बनेंगे । अतः इस तरह के धर्म का सेवन करें ॥८३॥

तीन सौ छोटे पात्रों में पकाया हुआ भोजन प्रतिदिन तीन बार दान करने से प्राप्त पुण्य एक मुहूर्त मैत्री के पुण्य के अंशतः (भी) तुल्य नहीं हैं ॥८४॥

देवता और मनुष्य मैत्रीपूर्ण हो जाएंगे और इनके द्वारा संरक्षण भी होगा । सौमनस्य और बहुसुख प्राप्त होगा तथा विष और शस्त्र से हानि नहीं होगी ॥८५॥

विना प्रयास के अर्थ की प्राप्ति होगी, ब्रह्मलोक में उत्पत्ति होगी और यदि मुक्त नहीं भी हुए तो भी अष्ट-मैत्री-धर्म के गुणों की प्राप्ति होगी ॥८६॥

सत्त्वों को बोधि में चित्तोत्पाद करा के दृढ किया जाने पर पर्वतेन्द्रराज की भाँति स्थिर बोधिचित्त सदा प्राप्त करोगे ॥८७॥

श्रद्धा से अक्षण में गमन नहीं होगा, शील से सुगति प्राप्त होगी और शून्यता के अभ्यास से सभी धर्मों में अनासक्ति प्राप्त होगी ॥८८॥

शाठ्य के न रहने पर स्मृतियुक्तता प्राप्त होगी, चिन्तन से बुद्धि प्राप्त होगी, (सद्धर्म तथा सद्धर्मवादियों का) सम्मान करने से अर्थबोध तथा धर्म की रक्षा करने से प्रज्ञावान् होंगे ॥८९॥

विना (मात्सर्य आदि) आवरण के धर्म का श्रवण और दान करने पर भगवान् बुद्ध के साथ संवास प्राप्त होगा तथा अपना अभीष्ट शीघ्र प्राप्त होगा ॥९०॥

अलोभ से अर्थसिद्धि होती हैं, मात्सर्य न करने से भोगसम्पत्ति की वृद्धि होगी, अहङ्कार के न रहने पर (अन्यों में) प्रधान होंगे तथा धर्म-क्षान्ति से धारणी की प्राप्ति होगी ॥९१॥

पञ्चसार के दान से तथा भयभीत लोगों को अभय के दान से सारे मारों से निहत नहीं होगे और महाबलों में श्रेष्ठ होगे ॥९२॥

चैत्यों में दीपों की माला, अन्धकार में दीपक तथा प्रदीपों में तैल देने से दिव्य चक्षु प्राप्त करोगे ॥९३॥

चैत्य की पूजा के लिए वाद्य, घण्टा का दान, शङ्ख तथा दुन्दुभि प्रदान करने पर दिव्यश्रोत्र प्राप्त करोगे ॥९४॥

दूसरों की गलती की बातें न उठाने, विकृत अङ्ग की चर्चा न करने तथा (अन्यों के) मन की अनुरक्षा करने पर परचित्तज्ञान प्राप्त होगा ॥९५॥

पादुका और वाहन देने, दुर्बलों का सम्मान करने तथा यान द्वारा गुरु का सत्कार करने पर (ऐसे) पण्डित ऋद्धि प्राप्त करेंगे ॥९६॥

धर्म के निमित्त (कार्य करने), उसी तरह धर्मशास्त्र के अर्थ का स्मरण करने और अमल धर्मदान से जातिस्मरत्व प्राप्त करेंगे ॥९७॥

वस्तुओं की निःस्वभावता को सम्यक् रूप से जानने से उत्तम षष्ठ सर्वास्रवक्षय अभिज्ञा प्राप्त करेंगे ॥९८॥

सभी सत्त्वों को (भवसागर से) तारने के लिए करुणापूर्वक भावना करने से तथा समतातत्त्व के अवबोध से (सर्व-) आकारवरोपेत बुद्धत्व प्राप्त करते हुए विजयी होगे ॥९९॥

अनेक प्रकार के शुद्ध प्रणिधान से बुद्ध-क्षेत्र की शुद्धि होगी । मुनीन्द्र को रत्न अर्पित करने से अनन्त प्रभा विकीर्ण होगी ॥१००॥

अतः इस तरह कर्मफल को अनुगुणों के साथ जान लें और सदा जगत् का वास्तविक हित करें । यही तुम्हारे लिए हितकर हैं ॥१०१॥

रत्नावली में बोधिसत्त्वसम्भारसङ्ग्रह-उपदेश नामक
तृतीय परिच्छेद समाप्त ।

चतुर्थ परिच्छेद

अधर्म और अन्याय का आचरण करते हुए भी राजा के प्रजा-जन प्रायः (उनकी) स्तुति किया करते हैं, इसलिए वह बड़ी कठिनाई से हित और अहित का ज्ञान कर पाता हैं ॥१॥

किसी दूसरे (साधारण व्यक्ति) को भी हितकारी किन्तु अप्रिय बात कहना कठिन हैं, फिर मेरे जैसे भिक्षु के द्वारा आप जैसे सार्वभौम राजा के लिए तो (कहना ही) क्या ?॥२॥

तुम्हारे द्वारा प्रदर्शित स्नेह की वजह से तथा जगत् के प्रति अनुकम्पा के कारण मैं अकेला तुमको अप्रिय किन्तु हितकर अधिक से अधिक कहूँगा ॥३॥

स्निग्ध, अर्थवान्, और पथ्य सत्य को अनुकम्पापूर्वक शिष्य को कहना चाहिए- ऐसा भगवान् ने कहा हैं, अतः वैसा (मैं) तुम्हें कह रहा हूँ ॥४॥

सत्य और अक्रोध से अन्वित वाक्यों के सुनाये जाने पर स्थित होकर, नहलाए जाने वाले व्यक्ति के द्वारा स्वच्छ जल को ग्रहण करने के समान श्रव्य (धर्मोपदेश) को ग्रहण करे ॥५॥

इहलोक और परलोक में हित करने में सक्षम उन मेरे द्वारा कहे जाने वाक्यों को जानकर तुम अपने और जगत् के हित के लिए कार्यान्वित करो ॥६॥

याचकों को पूर्व (जन्म) में दिए गए दान के फलस्वरूप प्राप्त अर्थों (भोग=धन) का यदि (इस जन्म में) दान नहीं करोगे तो (इस) अकृतज्ञता और लोभ के कारण (अगले जन्म में) पुनः उन्हें प्राप्त नहीं करोगे ॥७॥

इस लोक में श्रमिक विना भृति (मजदूरी) दिए पाथेय सामग्री का वहन नहीं करता (किन्तु) याचक तो भृति दिए विना ही परलोक में सौ गुना (अधिक फल) देता हैं ॥८॥

उदार चित्त वाले होकर सदा उदार कार्यों में लगे रहो । उदार कर्म के सभी फल उदार होते हैं ॥९॥

क्षुद्र राजाओं एवं अभिलाषाओं से अनास्वादित धर्म और त्रिरत्न के स्थानों को तुम श्रीसम्पन्न और विख्यात करो ॥१०॥

जो धर्मस्थान (मन्दिर, विहार आदि) पड़ोसी राजाओं के लिए रोमाञ्चकारी न हो, वह मृत्यु के बाद भी प्रशंसनीय न होने के कारण, उसे न बनाना ही अच्छा हैं ॥११॥

सारी सम्पत्ति लगाकर (अपने) उदारतापूर्ण कार्यों से (दूसरे) उदार (राजाओं में) विस्मय और उत्साह का वर्धन करें तथा मन्दों को हतोत्साहित करें ॥१२॥

आपको (अपनी) सारी सम्पत्ति को छोड़कर विवश होकर परलोक जाना पड़ेगा, (किन्तु) धार्मिक कार्यों के लिए नियुक्त वह सारी (संपत्ति फल के रूप में) आप के सामने ही आती हैं ॥१३॥

पूर्व नरेश की सारी सम्पत्ति (नए) राजा के द्वारा वश में की जाने पर पहले वाले की (वह सम्पत्ति) क्या (उसके) धर्म, सुख और यश के लिए होगी ?॥१४॥

अर्थ का भोग करने से यहाँ (इस लोक में) सुख होगा, और (दूसरों को) दान देने से परलोक में सुख होगा । भोग और दान नहीं करने पर नष्ट (ही) होने से दुःख ही हैं, सुख कहाँ ?॥१५॥

मृत्यु के समय तुम्हारे प्रति स्नेहहीन और नए राजा की अनुकूलता के आकाङ्क्षी मन्त्रियों के द्वारा अशक्त कर दिये जाने से (तुम) दान नहीं कर पाओगे ॥१६॥

इसलिए स्वस्थ रहते शीघ्र ही सारी सम्पत्ति से धर्मस्थान बनाएं, क्योंकि तुम आंधी में स्थित प्रदीप की भाँति मृत्यु के कारणों के बीच में स्थित हो ॥१७॥

धर्म के अधिकार में देव-द्रोणी (देवायतन) आदि जो भी कार्य पहले के राजा के द्वारा प्रवर्तित हैं, उन्हें यथापूर्व चालू रखें ॥१८॥

अहिंसक, शुभाचारी, व्रतस्थित, अतिथियों के प्रति स्नेह रखने वाले, साहसी, कलह न करने वाले और सदा तत्पर रहने वालों को सेवा में लगाएं १९॥

अन्ध, रोगी, विकलाङ्ग, दीन, अनाथ एवं याचक लोग समान रूप से निर्बाध अन्न-पान प्राप्त करें ॥२०॥

अनर्थी (सन्तुष्ट), सज्जन और धार्मिक लोगों पर चाहे वे अन्य राष्ट्र के रहने वाले हों यथाशक्ति अनुग्रह करें ॥२१॥

सभी धर्मविषयों में उनके अबाधक, सजग, अनासक्त एवं पण्डित (व्यक्ति) को धर्माधिकारी नियुक्त करें ॥२२॥

नीतिज्ञ, धार्मिक, स्निग्ध, शुचि, निष्ठावान्, निर्भीक, कुलीन, शीलसम्पन्न और कृतज्ञ (पुरुषों) को सचिव बनाएं ॥२३॥

उदार, त्यागी, शूरवीर, स्नेहशील, भोगों के सन्तुलित सेवी, स्थिर, सदा अप्रमादी एवं धार्मिक लोगों को दण्डाधिकारी बनाएं ॥२४॥

धर्मशील, पवित्र, निपुण, कार्यज्ञानी, शास्त्रज्ञ, नयज्ञ, समचित्त और स्नेही वृद्धों को अधिकारी बनाएं ॥२५॥

प्रतिमास उन लोगों से आप आय और व्यय सुनें और धर्माधिकार आदि सभी कार्यों को सुनकर स्वयं आदेश दें ॥२६॥

यदि आप का राज्य धर्म के लिए हैं, न कि यश और काम के लिए तो अत्यन्त सफल हैं । इससे विपरीत अनर्थ के लिए हैं ॥२७॥

राजन् ! एक दूसरे के भक्षण के लिए तत्पर इस लोक में आपका राज्य और धर्म कैसे हो, वह सुनें ॥२८॥

ज्ञान से वृद्ध, कुलीन, न्यायज्ञ, पाप से डरने वाले, अनेक कार्यनिरीक्षक सदा आपके पास एकत्र रहें ॥२९॥

वे (अधिकारी) यदि न्याय के अनुसार दण्ड, बन्धन, प्रहार (पिटाई) आदि करें तो भी आप करुणार्द्र होकर सदा अनुग्रहयुक्त रहें ॥३०॥

हे राजन् ! घोर पाप करने वाले भी सभी प्राणियों के प्रति आप करुणापूर्वक हमेशा (अपने) चित्त को (उनके) हित के लिए ही प्रवृत्त करें ॥३१॥

भयङ्कर पाप करने वाले हिंस्र प्राणियों के प्रति तुम्हें विशेष कर कृपा करनी चाहिए, क्योंकि वे ही हतात्मा (जिन्होंने अपना नाश कर लिया हैं) महात्माओं की कृपा के (विशेष) पात्र हैं ॥३२॥

प्रतिदिन या पाँच दिन में दुर्बल बन्दियों को छोड़ दिया करें तथा शेष के साथ यथोचित करें (परन्तु) ऐसा न करें कि किसी को न छोड़ें ॥३३॥

तुम्हारे (अन्दर) जिन बन्दियों के प्रति मुक्त न करने का मन होता हैं, उससे असंवर उत्पन्न होता हैं और असंवर से निरन्तर पाप का संचय होता हैं ॥३४॥

जब तक बन्दी मुक्त नहीं कर दिये जाते तब तक उनका बन्दी-जीवन सुखमय हो तथा वे नाई, स्नान, अन्न-पान, औषध, वस्त्र आदि (सुविधाओं) से युक्त हों ॥३५॥

अपात्र (अयोग्य) पुत्र को योग्य बनाने के लिए (माता-पिता द्वारा) जिस प्रकार उनका करुणापूर्वक ताडन (पीटना आदि) उचित हैं, उसी प्रकार तुम भी उन बन्दियों को करुणापूर्वक मारो न कि द्वेष से और धन के लोभ से ॥३६॥

दुष्ट और हिंसक आदमी का परीक्षण कर और अच्छी तरह जान कर उसे विना मारे-पीटे निर्वासित कर दें ॥३७॥

(तुम) स्वतन्त्रतापूर्वक गुप्तचरों रूपी नेत्रों के द्वारा सारे देश का अवलोकन करो और सदा अप्रमत्त और स्मृतिमान् होकर धार्मिक कार्य करो ॥३८॥

गुणी लोगों का दान, सम्मान और सत्कार से सेवन करके और शेषों का भी विधि के अनुसार उदार और अनुरूप कार्यों से (दान, सम्मान, सत्कार करें) ॥३९॥

क्षमा रूपी छाया वाला, सम्मान रूपी विकसित पुष्पों वाला, दान रूपी बड़े फलों वाला राजा रूपी वृक्ष (राजवृक्ष) सेवक रूपी पक्षियों द्वारा सेवन किया जाता हैं ॥४०॥

तेजस्वी, त्याग और सदाचार से युक्त राजा (जनता को) प्रिय होता हैं, जैसे इलायची और मरिच से युक्त चीनी का कठोर लड्डू ॥४१॥

इस प्रकार के न्याय से तुम्हारा राज्य मात्स्य न्याय (बड़े द्वारा छोटे को खा जाने की परम्परा वाला) नहीं होगा। (राज्य में) न

अन्याय होगा न अधर्म होगा और इस प्रकार (केवल) धर्म ही होगा ॥४२॥

तुम राज्य को न तो परलोक से लाये हो और न ले ही जाओगे । (यह) धर्म से प्राप्त हैं, अतः इस (राज्य) के लिए अधर्म करना युक्त नहीं हैं ॥४३॥

हे राजन्, तुम उस प्रकार यत्न करो, जिससे राज्य रूपी भाण्ड-सम्पत्ति द्वारा दुःख-भाण्डों की सन्तति का अर्जन न हो ॥४४॥

हे राजन्, तुम उस प्रकार का प्रयत्न करो, जिससे राज्य रूपी भाण्डसम्पत्ति द्वारा दुःख-भाण्डों की सन्तति बाहर हो जाए ॥४५॥

चार द्वीपों वाली (इस) पृथ्वी को प्राप्त करके (भी) चक्रवर्ती के लिए दो ही प्रकार के सुख माने गये हैं- शारीरिक और मानसिक ॥४६॥

शारीरिक सुख-वेदना तो दुःख की प्रतिक्रिया मात्र हैं । मानसिक सुख तो केवल संज्ञामय और कल्पनानिर्मित हैं ॥४७॥

लोक के सुखों का सर्वस्व दुःख की प्रतिक्रिया एवं कल्पनामात्रता ही हैं । वास्तविक रूप से तो वह (सुख) अर्थहीन (असार) हैं ॥४८॥

द्वीप, देश, पुर, आवास, प्रदेश, आसन, वस्त्र, शय्या, अन्न-पान, हाथी, घोड़ा और स्त्री एकैकशः भोग्य हैं ॥४९॥

जब जहाँ मन लग जाता हैं तब उससे (वहाँ) सुख होना माना जाता हैं । (एक का चिन्तन करते समय) शेषों का मनसिकार नहीं होने से वे अर्थतः व्यर्थ ही हैं ॥५०॥

चक्षुष् आदि पाँच इन्द्रियों के द्वारा पाँचों विषयों का ग्रहण करते समय (सभी को) कल्पना नहीं होती हैं, अतः उस समय उन (सब) में सुख नहीं होता हैं ॥५१॥

जब जिस जिस इन्द्रिय के द्वारा जिस जिस को जाना जाता हैं, उस समय शेष (इन्द्रियों) के द्वारा शेष (विषयों) का (अवबोध) नहीं होता हैं, अतः उस समय (वे) व्यर्थ ही हैं ॥५२॥

मन उन अतीत विषयों की आकृति का अवलम्बन करता हैं जो इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध की गई थी तथा (उन विषयों की) कल्पना करके सुख मान लेता हैं ॥५३॥

यहाँ (लोक में) यद्यपि एक इन्द्रिय एक अर्थ को जानती हैं, वह भी अर्थ के विना व्यर्थ हैं, और अर्थ भी उस (इन्द्रिय) के विना व्यर्थ ही हैं ॥५४॥

जैसे पुत्रोत्पत्ति माता और पिता पर अपेक्षित हैं, उसी तरह विज्ञान की उत्पत्ति भी रूप और चक्षु पर आश्रित हैं ॥५५॥

इन्द्रियों-सहित भूत तथा भविष्य के विषय निरर्थक हैं । उन दोनों से पृथक् न होने के कारण जो वर्तमान हैं, (वे) भी व्यर्थ हैं ॥५६॥

जिस प्रकार चक्षु भ्रान्ति के कारण अलात-चक्र का ग्रहण करता हैं, उसी प्रकार इन्द्रियां वर्तमान विषयों को ग्रहण करती हैं ॥५७॥

इन्द्रियां और इन्द्रियों के अर्थ पञ्चभूतात्मक माने गये हैं। प्रत्येक भूत की व्यर्थता (अर्थरहितता) होने से वस्तुतः इन (इन्द्रियां) और अर्थों की व्यर्थता हैं ॥५८॥

यदि भूतों को स्वभावतः भिन्न मानें तो विना इन्धन के भी अग्नि होने लगेगी और सम्पर्क होने पर उसके लक्षण का अभाव होने लगेगा, शेषों के भी विषय में यही निर्णय हैं ॥५९॥

इस तरह भूतों को (पृथक्शः और सामूहिक) दोनों तरह से अर्थहीनता होने से (उनकी) संगति व्यर्थ होगी और संगति के इस प्रकार व्यर्थ होने से रूप भी वस्तुतः व्यर्थ ही हैं ॥६०॥

विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार के पृथक् पृथक् सर्वथा स्वभावतः रहित होने से, इनकी परमार्थतः निरर्थकता हैं ॥६१॥

जिस प्रकार सुख का अभिमान वस्तुतः दुःख का प्रतिकार करने पर होता हैं, उसी प्रकार दुःख का अभिमान भी सुख के प्रतिघात से उत्पन्न होता हैं ॥६२॥

इस तरह सुख से संयोग की तृष्णा तथा दुःख से वियोग की तृष्णा निःस्वभावता के कारण दूर होती हैं, अतः इस प्रकार देखने वालों की मुक्ति होती हैं ॥६३॥

कौन देखता हैं ? ऐसा पूछने पर व्यवहार द्वारा 'चित्त देखता हैं' ऐसा कहा जाता हैं (किन्तु) चैतसिकों के विना चित्त व्यर्थ हैं, अतः (व्यर्थ) चित्त से चैतसिकों का सम्प्रयोग भी इष्ट नहीं हैं ॥६४॥

इस प्रकार जगत् को वस्तुतः निरर्थक जानकर (व्यक्ति) उपादान (काष्ठ आदि इन्धन) रहित अग्नि की भाँति, आश्रय (आलय=आसक्ति) और उपादान (क्लेशों) से रहित होकर निर्वाण प्राप्त करता हैं ॥६५॥

इस प्रकार बोधिसत्त्व भी शून्यता का दर्शन करके संबोधि में नियत माना जाता हैं । वह तो केवल करुणा की वजह से ही बोधि-प्राप्ति तक संसार में जन्म ग्रहण करता हैं ॥६६॥

तथागत ने महायान में बोधिसत्त्व का सम्भार (पुण्य और ज्ञान सम्भार) दिखाया हैं । लोग मूर्खतावश और द्वेषवश उस बोधिसत्त्व की निन्दा करते हैं ॥६७॥

महायान का निन्दक वही हैं जो गुण-दोष (का विवेचन) नहीं जानता, या गुण को दोष समझता हैं या गुणों का द्वेषी हैं ॥६८॥

दूसरों के उपकार को गुण और दूसरों के अपकार को दोष जानकर (लोक द्वारा) महायान की निन्दा करने वाला गुणद्वेषी कहा गया हैं ॥६९॥

स्वार्थ से निरपेक्ष रहने के कारण एकमात्र परार्थ को ही चाहने वाला, गुणों का निधान जो महायान हैं, उसके प्रति द्वेष करने वाला व्यक्ति उस (द्वेष) से (ही) दग्ध होता हैं ॥७०॥

श्रद्धावान् (व्यक्ति भी शून्यता को) गलत ढंग से गृहीत करने के कारण और इससे भिन्न (व्यक्ति) क्रोध के कारण (शून्यता के प्रति) द्वेष करता हैं । (इन दोनों में जब) श्राद्ध भी दग्ध कहा गया हैं तो द्वेष के कारण विमुख लोगों के बारे में कहना ही क्या हैं ॥७१॥

जैसे चिकित्सकों ने कहा हैं कि विष से विष का नाश करना चाहिए, उसी तरह दुःख से भी अहित का नाश कहने में क्या विरोध हैं ?॥७२॥

सभी धर्म मनःपूर्वगामी हैं, सभी धर्मों में मन ही श्रेष्ठ हैं- इस श्रुति (भगवद्वचन=आगम) से दुःख से भी हित करता हुआ हितमना (बोधिसत्त्व) किसी का अहित कैसे करेगा ? (अर्थात् नहीं कर सकता) ॥७३॥

भविष्य में हितकर दुःख का भी सम्पादन करना चाहिए, अपने और पराये के लिए हितकर सुख (के विषय) में तो कहना ही क्या हैं ? यही सनातन धर्म हैं ॥७४॥

अल्प सुख के परित्याग से बाद में यदि विपुल सुख प्राप्त हो तो धीर पुरुष इस विपुल सुख को देखते हुए अल्प सुख का त्याग करें ॥७५॥

यदि यह (विपुल सुख के लिए अल्पसुख का त्याग) सह्य नहीं हैं तब तो (बेचारे) कड़वी दवाई देने वाले चिकित्सक मारे गये (अर्थात् बेकार हो गये) । अतः यह युक्त नहीं हैं ॥७६॥

(साधारणतया) जो अपथ्य हैं वह भी पण्डितों के द्वारा कहीं-कहीं पथ्य के रूप में देखा जाता हैं । उत्सर्ग और अपवाद तो सभी शास्त्रों में कहे जाते हैं ॥७७॥

जिस महायान में सभी निष्यन्द (आचरण) करुणापूर्वगामी एवं ज्ञान द्वारा निर्मल कहे गये हैं, कौन सचेतन व्यक्ति उसकी निन्दा करेगा ?॥७८॥

(महायान को) अत्यन्त उदारता और अत्यधिक गम्भीरता से खिन्न, असंयमी तथा अपने और दूसरों के शत्रुओं के द्वारा मोह (अज्ञान) के कारण आज महायान की निन्दा की जा रही हैं ॥७९॥

महायान मत (जब कि) दान शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा और करुणा से परिपूर्ण हैं, तो फिर उसके बारे में अपशब्द क्यों कहे जाते हैं ?॥८०॥

दान और शील से दूसरों का हित, वीर्य और क्षमा से अपना हित (होता हैं) तथा ध्यान और प्रज्ञा मोक्ष के लिए हैं । संक्षेप में यहीं महायान के विषय हैं ॥८१॥

स्वहित, परहित और मोक्ष ये ही अर्थ संक्षेप में बुद्ध का शासन हैं । वे (अर्थ) छह पारमिताओं के गर्भ में हैं, इसलिए यह बुद्धवचन हैं ॥८२॥

जिस (महायान) में बोधि का पुण्यमय और ज्ञानमय महामार्ग भगवान् बुद्ध के द्वारा दिखाया गया हैं, उस महायान को निश्चित ही अज्ञान से अन्धे लोग सहन नहीं कर पाते हैं ॥८३॥

आकाश की भाँति अचिन्तनीय पुण्यशाली होने से बुद्ध अचिन्त्यगुणों वाला कहा गया हैं, (अतः) महायान में (प्रतिपादित) बुद्ध के इस महत्त्व को (अन्यों द्वारा) स्वीकार करना चाहिए ॥८४॥

आर्य शारद्वतीपुत्र को क्योंकि शीलमात्र के विषय में भी जो (बुद्ध) अगोचर हैं, उस बुद्ध का माहात्म्य अचिन्त्य हैं, उसे क्यों नहीं सहन (स्वीकार) किया जाता ॥८५॥

महायान में अनुत्पाद तथा दूसरों (हीनयानियों के मत) में (क्लेशों का) क्षय शून्यता कहा गया हैं । वस्तुतः क्षय और अनुत्पाद का ऐक्य हैं । अतः इसे स्वीकार करना चाहिए ॥८६॥

इस प्रकार युक्तिपूर्वक शून्यता और बुद्ध के माहात्म्य को देखने वाले विद्वानों के लिए महायान तथा उससे भिन्न (हीनयान) के उपदेश समान क्यों नहीं होंगे ? (अर्थात् होंगे) ॥८७॥

तथागत के द्वारा विशेष उद्देश्य से कहे गये वचनों को समझ पाना आसान नहीं हैं । अतः (उनको) एकयान और त्रियान की उक्ति से उपेक्षा के साथ अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥८८॥

उपेक्षा से अपुण्य नहीं होगा और द्वेष से तो पाप (ही) होगा, शुभ कहाँ से होगा । अतः अपना कल्याण चाहने वालों को महायान के प्रति द्वेष करना उचित नहीं हैं ॥८९॥

श्रावकयान में बोधिसत्त्व का प्रणिधान, चर्या और परिणामना नहीं कही गई हैं, अतः (वहाँ) उस (श्रावकपिटक) से बोधिसत्त्व कैसे होगा ?॥९०॥

बुद्धों के द्वारा (श्रावकयान में) बोधिसत्त्व को बोधि के लिए अधिष्ठान नहीं किया गया हैं । इस विषय (अर्थ) में बुद्ध से अधिक प्रमाण कौन हैं ? (अर्थात् कोई और नहीं हैं) ॥९१॥

अधिष्ठान, आर्यसत्यरूपी अर्थ तथा बोधिपक्षीयधर्मों से युक्त श्रावक-साधारण मार्ग से (श्रावकों द्वारा) अधिक (असाधारण) बुद्धत्वरूपी फल कैसे होगा ? (अर्थात् नहीं होगा) ॥९२॥

बोधिचर्या की प्रतिष्ठा के लिए (श्रावकयान के) सूत्रों में वचन नहीं कहे गये हैं । (वे) महायान में ही कहे गये हैं। अतः बुद्धिमानों को (महायान ही) ग्राह्य हैं ॥९३॥

जैसे वैयाकरण (प्रारम्भ में) वर्णमाला पढ़ाते हैं, उसी तरह भगवान् बुद्ध भी विनेयजनों की क्षमता के अनुसार धर्म की देशना करते हैं ॥९४॥

(भगवान् ने) किसी (सामान्य पृथग्जनों) को पाप से विनिवृत्त करने के लिए और किसी को पुण्य-सिद्धि करने के लिए धर्म का उपदेश दिया, तथा किसी (हीनयानियों) को द्वय में निश्रित (धर्म की देशना की) ॥९५॥

किसी (योगाचारों) को अद्वयनिश्रित तथा किसी (माध्यमिकों) को गम्भीर, भीरुओं को भयभीत करने वाले, शून्यता और करुणा से युक्त बोधिसाधन का (उपदेश दिया) ॥९६॥

इसलिए सज्जन लोगों को महायान के प्रति द्वेष का त्याग करना चाहिए और विशेषतः सम्यक्संबोधि की सिद्धि के लिए अधिक श्रद्धा करनी चाहिए ॥९७॥

महायान के प्रति श्रद्धा से तथा उसमें कहे हुए का आचरण करने से अनुत्तर बोधि प्राप्त होती हैं और इस बीच सारे (सांसारिक) सुख भी सिद्ध होते हैं ॥९८॥

गृहस्थों के लिए दान, शील, क्षमा और सत्य धर्म विशेष रूप से कहे गये हैं । उसी कृपामय धर्म की आप दृढता से भावना करें ॥९९॥

परन्तु लोगों की विधर्मता (धर्म-विपरीत-प्रवृत्ति) के कारण धर्म से राज्य-संचालन दुष्कर हैं, अतः आपको धर्म और यश के लिए प्रव्रजित होना उचित हैं ॥१००॥

रत्नावली में राजवृत्तोपदेश नामक चतुर्थ परिच्छेद समाप्त ।

पञ्चम परिच्छेद

प्रव्रजित के द्वारा सर्वप्रथम शिक्षा का अत्यधिक आदर करना चाहिए और उसके बाद विनय-सहित प्रातिमोक्ष के अर्थ का (सूत्र आदि में) बहुश्रुत होकर निर्णय करना चाहिए ॥१॥

तदनन्तर क्षुद्रवस्तुसंज्ञक दोषों को (जानकर उनका) प्रहाण करना चाहिए । कहे जा रहे उन सत्तावन (नियमों) को यत्नपूर्वक अच्छी तरह से जानना चाहिए ॥२॥

'क्रोध' चित्त का प्रकोप हैं, क्रोध का धारा के रूप चलते रहना (अनुबन्ध) 'उपनाह' हैं । अपने पाप को छिपाना 'म्रक्ष' हैं, पाप का संगी होना 'प्रदाश' हैं ॥३॥

'माया' परवञ्चना (ठगना) हैं, 'शाठ्य' चित्तसन्तति की कुटिलता हैं, 'ईर्ष्या' दूसरों के गुणों को देखकर जलना (ताप) हैं और 'मात्सर्य' त्याग से भयभीत होना (अर्थात् अपरित्याग की इच्छा) हैं ॥४॥

(पाप करने में) स्वयं से न लजाना 'अह्रीकता' तथा दूसरों से न लजाना 'अनपत्राप्य' हैं । 'स्तम्भ' (गुरु, माता-पिता आदि के प्रति) न झुकना हैं । कोप के प्रभाव से जनित विभ्रम 'संरम्भ' हैं ॥५॥

'मद' घमण्ड हैं, 'प्रमाद' कुशल कार्य में न लगना हैं और 'मान' सात प्रकार का हैं, उसे (उसके) भेद के अनुसार कहूँगा ॥६॥

उनमें अभिमान से युक्त (व्यक्ति) का अपने को हीन से हीन, समान के बराबर तथा हीन से अधिक अथवा समान समझना 'मान' हैं ॥७॥

जो अधम अपने को (अपने से) विशिष्ट के बराबर मानता हैं और जो विशिष्टों से (भी) विशिष्ट मानता हैं, वह 'अतिमान' हैं ॥८॥

अपने से अत्यधिक श्रेष्ठ से भी श्रेष्ठ समझना 'मानातिमान' हैं। यह कपोल पर उत्थित भीषण फोड़े के समान हैं ॥९॥

उपादान-संज्ञक (स्वभावतः शून्य) इन पाँच स्कन्धों में मोहवश 'में' इस तरह ग्रहण करना 'अस्मिमान' कहा जाता हैं ॥१०॥

(स्रोत-आपत्ति आदि) फलों के प्राप्त न होने पर भी मैंने प्राप्त कर लिया ऐसा मान अभिमान हैं तथा पाप कर्म करने की प्रशंसा करना विद्वानों द्वारा 'मिथ्यामान' कहा गया हैं ॥११॥

मेरा (जीवित रहना) निष्प्रयोजन हैं इस तरह अपने आप की निन्दा करना 'अधम मान' हैं । ये सातों (मान) सक्षेप में कह दिए गए ॥१२॥

वह इन्द्रियसंवर जो लाभ और सत्कार (आदि) प्राप्त करने के लिए किया जाता हैं, 'कुहना' हैं । लाभ और सत्कार के लिए (ही) सम्मुख चापलूसी करना 'लपना' हैं ॥१३॥

परद्रव्य की प्राप्ति के लिए उस (परद्रव्य) की प्रशंसा करना 'नैमित्तिकता' हैं तथा (किसी) लाभ के लिए सामने ही दूसरों की निन्दा करना 'निष्पेषिकता' हैं ॥१४॥

लाभ की दृष्टि से पूर्व प्राप्त लाभ की प्रशंसा करना 'लाभेन लिप्सा' हैं । प्रकोपित के (दोषों के) अन्यों के बार-बार दोहराना 'शिङ्गु' हैं ॥१५॥

अज्ञान-रूपी रोग से ग्रस्त होना 'स्तैमित्य' हैं । अपने हीन उपकरणों के प्रति आँख मूंदकर डूबे रहना या आलसी का आँख मूंदकर डूबे रहना 'निद्रासङ्ग' हैं ॥१६॥

जो राग, द्वेष और (अज्ञान के) अन्धकार से आवृत हैं, वह संज्ञा 'नानात्वसंज्ञा' हैं । जो चित्त का न देखना (अदर्शन) हैं, उसे (विद्वान्) 'अमनस्कार' कहते हैं ॥१७॥

गुरुओं के प्रति अनुरूप (उचित) क्रियाओं में आलस्य के कारण जो गौरवहीनता हैं और उन (गुरुओं) के प्रति जो अभगवद्भाव हैं, उसे (सज्जनसम्मता नहीं, अपितु) 'दुर्जनसम्मता' कहते हैं ॥१८॥

कामराग से उत्पन्न अल्प पर्यवस्थान (समुत्थापक) 'गर्ध' हैं तथा अर्थकाम से उत्थित महान् पर्युत्थान (उत्थापक) 'परिगर्ध' हैं ॥१९॥

अपनी सम्पत्ति के प्रति आसक्त राग से दृढ़तया अन्वित मन 'लोभ' हैं तथा दूसरों की सम्पत्ति के प्रति आसक्ति 'विषम लोभ' कहा जाता हैं ॥२०॥

वर्जनीय स्त्रियों के प्रति आसङ्ग की प्रवीणता 'अधर्मराग' हैं । निर्गुण होते हुए भी (अपने को) गुणवान् प्रदर्शित करने का उपाय 'पापेच्छता' हैं ॥२१॥

(कामभोगों के प्रति) अत्यन्त प्रीति 'महेच्छता' हैं, जो सन्तोष-ऐश्वर्य का उल्लङ्घन हैं । मुझे लोग सद्भूत गुणों से युक्त कैसे जानें- यह इच्छा 'ईप्सुता' हैं ॥२२॥

अपराध और दुःखों के प्रति असहिष्णुता 'अक्षान्ति' हैं । आचार्य और गुरु के कार्यों के प्रति अनादर 'अनाचार' हैं ॥२३॥

जो कथित वचन सद्धर्म का आदर नहीं (अनादर) करता, वह 'दौर्वचस्य' हैं । बान्धवों के प्रति स्नेह रखना 'ज्ञाति-सम्बन्धित वितर्क' हैं ॥२४॥

इसी तरह तृष्णा के कारण उस (जनपद) के गुणों का अत्यधिक बखान करना 'जानपद (वितर्क)' हैं तथा मृत्यु के भय की आशङ्का न रहना 'अमर वितर्क' हैं ॥२५॥

मैं किस तरह दूसरों के द्वारा सद्गुणों से युक्त के रूप में सम्मानित होऊं– ऐसा सोचना 'अनुविज्ञप्तिसंयुक्त वितर्क' हैं ॥२६॥

दूसरों के प्रति स्नेह के संस्पर्श से हित का चिन्तन और व्यापाद के संस्पर्श से अहित का चिन्तन 'परानुदयताप्रतिसंयुक्त वितर्क' हैं ॥२७॥

अधैर्य से युक्त (व्यक्ति) का उत्कण्ठा से युक्त मन 'अरति' हैं तथा मन्द (व्यक्ति) के गात्र की शिथिलता से उत्पन्न आलस्य 'तन्द्री' हैं ॥२८॥

क्लेशों की वज़ह से काय की अंगड़ाई और मुख जम्हाई 'विजृम्भिका' हैं तथा अत्यधिक खाने से काय की मूर्च्छना को (विद्वान्) 'भक्त असम्मद' कहते हैं ॥२९॥

चित्त की अत्यन्त दीनता 'चित्तलीनता' कही गई हैं तथा पाँच कामगुणों का अनुविचार 'कामच्छन्द' कहा गया हैं ॥३०॥

अपने और अपने मित्रपक्ष और शत्रुपक्ष के विषय में तीनों कालों में आशङ्कित व्यक्ति की दूसरों का अहित करने की चेतना 'व्यापाद' हैं । यह नौ हेतुओं से उत्पन्न होता हैं । (नौ हेतु इस प्रकार हैं– मेरा अहित किया गया, किया जा रहा हैं और किया जाएगा; मेरे बन्धु का अहित किया गया, किया जा रहा हैं और किया जाएगा तथा मेरे शत्रु का हित किया गया, किया जा रहा हैं और किया जाएगा) ॥३१॥

गुरुता (भारीपन) के कारण शरीर और मन की अकर्मण्यता 'स्त्यान' हैं । निद्राजनित अन्धता 'मिद्ध' हैं तथा शरीर और मन की अशान्ति (अनुपशम) 'औद्धत्य' हैं ॥३२॥

कुकृत करने के बाद पश्चात्ताप से उत्पन्न शोक 'कौकृत्य' हैं । (चार) आर्य सत्य और (तीन) रत्न आदि के प्रति बुद्धि की द्विविधता (हैं, नहीं हैं) 'विचिकित्सा' हैं ॥३३॥

बोधिसत्त्व के द्वारा इन (पूर्वोक्त सत्तावन दोषों) को त्यागना चाहिए और प्रव्रजित लोगों के द्वारा तो विशेष रूप से त्यागना चाहिए । इन दोषों से मुक्त होने पर ही गुणों के सुख का सेवन करता हैं ॥३४॥

बोधिसत्त्वों के द्वारा सेवन करने योग्य गुण संक्षेप में दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, कृपा आदि हैं ॥३५॥

आत्मीय वस्तु का परित्याग 'दान' हैं । दूसरों का हित करना 'शील' हैं । क्रोध से मुक्ति 'क्षान्ति' हैं । शुभ कार्य का परिग्रहण 'वीर्य' हैं ॥३६॥

अक्लिष्ट (चित्त की) एकाग्रता 'ध्यान' हैं । सत्य अर्थ का निश्चय 'प्रज्ञा' हैं । तथा समस्त सत्त्वों के प्रति करुणा से एक रस बुद्धि 'कृपा' हैं ॥३७॥

दान से भोग, शील से सुख, क्षमा से दीप्ति, वीर्य (श्रम) से द्युति, ध्यान से शान्ति, प्रज्ञा से मुक्ति होती हैं । कृपा तो समस्त अर्थों को सिद्ध करने वाली हैं ॥३८॥

इन सातों में एक साथ पारङ्गत होने पर अचिन्त्य ज्ञान का विषय लोकनाथत्व (अर्थात् बुद्धत्व) प्राप्त होता हैं ॥३९॥

जिस प्रकार श्रावकयान में आठ श्रावक-भूमियाँ कही गई हैं, उसी तरह महायान में दस बोधिसत्त्व-भूमियाँ हैं ॥४०॥

उनमें से प्रथम प्रमुदिता हैं क्योंकि (यहाँ पहुँचने पर) संयोजनत्रय (=सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा और शीलव्रतपरामर्श) से मुक्त होने तथा

तथागत के कुल में उत्पन्न होने के कारण वह बोधिसत्त्व प्रमुदित होता हैं ॥४१॥

इस (भूमि) के विपाक द्वारा (बोधिसत्त्व) दानपारमिता में पारङ्गत होता हैं, लोकधातु को सौ बार कम्पित करने में समर्थ तथा जम्बूद्वीप का महेश्वर होता हैं ॥४२॥

काय, वाक् और चित्त के दसों कर्मों की विमलता से स्वभावतः उनमें स्थित होने के कारण द्वितीय विमला भूमि कही जाती हैं ॥४३॥

इस (भूमि) के विपाक द्वारा (बोधिसत्त्व) शीलपारमिता में पारङ्गत होता हैं; श्रीमान्, सात रत्नों का स्वामी तथा जगत् का कल्याण करने वाला चक्रवर्ती होता हैं ॥४४॥

(और भी) इसके विपाक द्वारा चारों द्वीपों का अधिपति होता हैं। सत्त्वों के दुःशील के निवारण में सक्षम होता हैं ॥४५॥

तृतीय प्रभाकरी भूमि हैं, क्योंकि यहाँ (निमित्त से) शान्त ज्ञान की प्रभा उत्पन्न होती हैं तथा ध्यान और अभिज्ञा का उत्पाद होता हैं और राग-द्वेष का विनाश होता हैं ॥४६॥

इस (तृतीय भूमि) के विपाक द्वारा बोधिसत्त्व क्षान्ति और वीर्य की क्रियाओं को अधिक सम्पन्न करने वाला होता हैं । वह पुण्यात्मा कामराग का निवर्तन करने वाला और देवताओं का महाप्रभु होता हैं ॥४७॥

सम्यग् ज्ञान की रश्मि उत्पन्न होने के कारण तथा सकल (३७) बोधिपाक्षिक धर्मों की विशेष रूप से भावना करने के कारण चतुर्थ अर्चिष्मती भूमि कही गई हैं ॥४८॥

इस (चतुर्थ भूमि) के विपाक द्वारा पुण्यात्मा (बोधिसत्त्व) सुयामा भूमि के देवताओं का राजा होता हैं तथा सत्कायदृष्टि के कारण को नष्ट करने वाला होता हैं ॥४९॥

सभी मारों द्वारा अत्यन्त दुर्जय होने के कारण पाँचवीं (भूमि) सुदुर्जया हैं । यहाँ आर्य सत्य आदि सूक्ष्म अर्थों के ज्ञान की कुशलता प्राप्त होती हैं ॥५०॥

इस (पाँचवीं भूमि) के विपाक द्वारा (बोधिसत्त्व) तुषिता भूमि के देवताओं का राजा होता हैं और सारे तैर्थिकों की क्लेश-दृष्टियों का निवारण करने वाला होता हैं ॥५१॥

बुद्ध-धर्म के प्रति अभिमुख होने के कारण छठवीं (भूमि) अभिमुखी कही गई हैं । शमथ और विपश्यना के अभ्यास से निरोध की विपुलतया प्राप्ति होती हैं ॥५२॥

इस (छठवीं भूमि) के विपाक द्वारा (बोधिसत्त्व) सुनिर्मित (निर्माणरति) भूमि के देवताओं का राजा होता हैं । श्रावकों के द्वारा असंहार्य तथा विशेष अभिमान करने वालों को शान्त करने वाला होता हैं ॥५३॥

गुणों की संख्या से दूर गई हुई (अतीत) होने के कारण सातवीं (भूमि) दूरंगमा हैं, क्योंकि यहाँ क्षण-क्षण में निरोध की समापत्ति होती हैं ॥५४॥

इस (सातवीं भूमि) के विपाक द्वारा (बोधिसत्त्व) वशवर्ती (परनिर्मित वशवर्ती) भूमि के देवताओं का अधिपति होता हैं तथा आर्यसत्य के अभिसमय ज्ञान में आचार्यों का महानायक होता हैं ॥५५॥

इसी तरह अष्टमी कुमारभूमि अचल हैं, क्योंकि निर्विकल्प (आत्मविकल्प के राहित्य) से निश्चलता (प्राप्त) हैं । इसी तरह (इस

भूमि में स्थित बोधिसत्त्व के) काय, वाक् और चित्त के गोचर अचिन्त्य हैं ॥५६॥

इस (आठवीं भूमि) के विपाक द्वारा (बोधिसत्त्व) साहस्र (लोक धातु) का अधिपति ब्रह्मा होता हैं तथा अर्हत् और प्रत्येकबुद्ध आदि द्वारा अर्थनिर्णय में वह असंहार्य (दूसरे पक्ष में न ले जाया जा सकने योग्य) होता हैं ॥५७॥

साधुमती नाम की नवमी भूमि युवराज की भाँति हैं, क्योंकि यहाँ प्रतिसंविद् की प्राप्ति होती हैं, इस कारण इसे मतिभद्रा भी कहा जाता हैं ॥५८॥

इस (नवमी भूमि) के द्वारा (बोधिसत्त्व) द्विसाहस्र (लोकधातु) का अधिपति होता हैं तथा सत्त्वों के आशय पूछने में अर्हत् आदि के द्वारा हराया नहीं जा सकता ॥५९॥

सद्धर्म की वर्षा करने से दसवीं धर्ममेघा भूमि कही जाती हैं, क्योंकि (यहाँ) बुद्धों द्वारा रश्मियों से बोधिसत्त्वों का अभिषिञ्चन किया जाता हैं ॥६०॥

इस (दशमी भूमि) के विपाक द्वारा (बोधिसत्त्व) शुद्धावास (भूमि) के देवताओं का अधिपति हो जाता हैं तथा (वह) अचिन्त्य ज्ञान का विषय, (तीनों लोकों का) स्वामी, सर्वश्रेष्ठ एवं महेश्वर हो जाता हैं ॥६१॥

इस प्रकार ये दस बोधिसत्त्वों की 'दश भूमि' (नाम) से प्रख्यात हैं । बुद्धों की भूमि (इनसे) भिन्न तथा सर्वथा अप्रमेय हैं ॥६२॥

ये (बुद्धभूमियाँ अत्यन्त) उदार (अनन्त विस्तार से युक्त) कही गई हैं । (ये) दश बल मात्र से युक्त हैं । इनका प्रत्येक बल भी उतना ही अप्रमेय हैं, जितना संसार ॥६३॥

बुद्ध की अप्रमेयता सभी दिशाओं के आकाश, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु की भाँति हैं, मात्र इतना ही कहा जा सकता हैं ॥६४॥

यदि बुद्ध के हेतु की अप्रमेयता उस मात्रा में न दिखे तो बुद्धों की उस अप्रमेयता पर विश्वास नहीं होगा ॥६५॥

अतः (बुद्ध की) प्रतिमा और चैत्य के समक्ष अथवा अन्यत्र, इन बीस श्लोकों का प्रतिदिन तीन समयों में पाठ करें ॥६६॥

बुद्ध, धर्म, संघ तथा बोधिसत्त्वों को भी सदा प्रणाम और शरणगमन करके पूज्यों को नमस्कार करता हूँ ॥६७॥

पाप से निवृत्त होकर सारे पुण्यों का परिग्रहण करता हूँ तथा समस्त देहधारियों के सभी पुण्यों का अनुमोदन करता हूँ ॥६८॥

मैं साञ्जलि शिरसा प्रणाम कर सभी बुद्धों से प्रार्थना करता हूँ कि वे जब तक संसार हैं, तब तक स्थित रहें और धर्मचक्र का प्रवर्तन करें ॥६९॥

इस प्रकार मेरे द्वारा किये गए पुण्य तथा कृत और अकृत जो (भी पुण्य) हों उससे समस्त सत्त्व भी अनुत्तर बोधिचित्त से युक्त हो जाएं ॥७०॥

समस्त सत्त्व विमल इन्द्रियों से सम्पन्न हों, सभी अक्षणों से रहित होकर अपराधीन चर्या वाले हों और अच्छी जीविका वाले हों ॥७१॥

समस्त शरीरधारियों के हाथ रत्नयुक्त हों तथा समस्त भोगोपादान अनन्त हों और संसार पर्यन्त उनका नाश न हो ॥७२॥

सारी स्त्रियां सर्वदा उत्तम पुरुषत्व को प्राप्त करें तथा सभी देहधारी विद्या और चरणों से सम्पन्न हों ॥७३॥

(सभी) देहधारी वर्णवान्, सुरूप, महातेजस्वी, प्रियदर्शन, नीरोग, बलवान् और आयुष्मान् हों ॥७४॥

सभी (प्राणी) उपायकुशल होकर सभी दुःखों से मुक्त हो जाएं, त्रिरत्न की ओर प्रवण होकर तथा बुद्ध के धर्मरूपी महाधन से युक्त हो जाएं ॥७५॥

मैत्री, करुणा, मुदिता, क्लेशों की उपेक्षा में अवस्थित, दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान, और प्रज्ञा से अलंकृत हों ॥७६॥

सभी (सत्त्व) सम्भारों को परिपूर्ण करके विस्पष्ट लक्षण और व्यञ्जनों से युक्त हो जाएं तथा अविच्छिन्न रूप से अचिन्तनीय दस भूमियों में गमन करें ॥७७॥

मैं भी इन गुणों से और अन्य सारे गुणों से अलंकृत होकर सभी दोषों से मुक्त होऊं तथा समस्त सत्त्वों के प्रति उत्तम मैत्री-भावना से युक्त होऊं ॥७८॥

सभी सत्त्वों के मनोरथों को और सभी पुण्यों को पूर्ण करता हुआ सभी प्राणियों के दुःखों को हमेशा दूर करूँ ॥७९॥

समस्त लोकों में भय से संत्रस्त जो कोई भी प्राणी हो वह मेरा नाम सुनने से ही अत्यन्त निर्भय हो जाए ॥८०॥

मुझको देखने से और मेरा स्पर्श करने से तथा मेरे नाम के श्रवणमात्र से कुपित लोग भी प्रसन्न एवं स्वस्थ हो जाएं तथा वे सम्बोधि (की प्राप्ति) में निश्चित हो जाएं ॥८१॥

मैं सभी जन्मों में अनुगमन करने वाली पाँच अभिज्ञाएं प्राप्त करूं तथा सभी सत्त्वों के सभी प्रकार के हित और सुख का हमेशा सम्पादन करूँ ॥८२॥

समस्त लोक में जो लोग पाप करना चाहते हैं, उन सबको विना हानि किए एक साथ रोक सकूँ ॥८३॥

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, ओषध और वन के वृक्षों की भाँति (मैं) सदा समस्त लोगों के द्वारा स्वेच्छा से निर्विघ्न भोग्य होऊँ ॥८४॥

मैं प्राणियों का प्राणप्रिय होऊँ तथा प्राणी मेरे प्रियतर हों । उनका पाप मुझमें विपाक दे तथा मेरे सारे पुण्य उन (प्राणियों) में फल प्रदान करें ॥८५॥

जब तक एक भी प्राणी यहाँ कहीं पर भी अमुक्त (दुःखी) हैं तब तक मैं अनुत्तरबोधि प्राप्त करके भी (संसार में) उनके लिए स्थित रहूँ ॥८६॥

इस तरह कहने वालों का पुण्य यदि मूर्तिमान् (साकार) हो तो गंगा-नदी के बालू (कणों) की जितनी संख्या हैं उतने लोकधातु में भी वह नहीं समाएगा ॥८७॥

यही भगवान् बुद्ध ने कहा और इसका हेतु भी यहाँ देखा जाता हैं । अमेय सत्त्वों के लिए हित करने की इच्छा इस प्रकार ही होती हैं ॥८८॥

इस प्रकार मैंने तुमको जो धर्म संक्षेप में कहा हैं वह (धर्म) जैसे तुमको अपना आत्मा (अस्तित्व) हमेशा प्रिय होता हैं उसी तरह सदा प्रिय हो ॥८९॥

जिसको धर्म प्रिय होता हैं उसे वस्तुतः अपना आत्मा प्रिय होता हैं । यदि प्रिय का हित करना चाहें तो वह धर्म से ही होता हैं ॥९०॥

अतः आत्मा की भाँति धर्म का सेवन करो, धर्म की भाँति प्रतिपत्ति का, प्रतिपत्ति की भाँति प्रज्ञा का और प्रज्ञा की भाँति पण्डितों का सेवन करो ॥९१॥

शुद्ध आचरण, स्नेही, बुद्धिमान् और अनुग्रह पूर्वक हित करने वालों के प्रति जो अपनी दुष्टता से शंका करता हैं वह स्वार्थ का हनन करता हैं ॥९२॥

शुद्ध आचरण वाले, स्नेही, विद्वान् और आग्रह पूर्वक हित करने वाले के (रहते) राजन् ! मैं सनाथ हूँ इस प्रकार अपने को आश्वस्त करो ॥९३॥

तुम इन कल्याणमित्रों के लक्षण संक्षेप में (इस प्रकार) जान लो– सन्तोष, करुणा, शील और क्लेश–निवारिणी प्रज्ञा ॥९४॥

उन लोगों के द्वारा जो तुम्हें उपदेष्टव्य (उपदेश करने योग्य) हैं, उसको जान कर तुम्हे आदरपूर्वक उसका आचरण करना चाहिए । इस प्रकार नयसम्पत्ति द्वारा तुम उत्तम सिद्धि प्राप्त करोगे ॥९५॥

सत्यभाषी और सत्त्वों के प्रति प्रियभाषी, सुखशील, दुरासद (दुर्धर्ष), नीतिमान्, तिरस्कार करना न चाहने वाले, स्वतन्त्र एवं भद्र वाणी बोलने वाले होओ ॥९६॥

अनुशयों का दमन करने वाले, त्यागी, तेजस्वी, शान्तचित्त, अदीर्घसूत्री, अचंचल, शाठ्यरहित और दक्ष (कुशल) होओ ॥९७॥

(तुम) पूर्ण चन्द्र की भाँति सौम्य, शरद् ऋतु के सूर्य की भाँति तेजस्वी, समुद्र की भाँति गम्भीर तथा सुमेरु की भाँति दृढधर्म वाले बनो ॥९८॥

सारे दोषों से विमुक्त, सारे गुणों से अलङ्कृत, समस्त सत्त्वों के पोषक बनो और निश्चित रूप से सर्वज्ञ बनो ॥९९॥

यह धर्म केवल राजा के लिए ही उपदिष्ट नहीं हैं अपितु यथायोग्य अन्य प्राणियों के लिए भी (उनके) हित की इच्छा से (उपदिष्ट) हैं ॥१००॥

राजन् ! अपने और दूसरों की सम्यक्सम्बोधि की सिद्धि के लिए इस परिकथा को प्रतिदिन श्रवण करें ॥१०१॥

जो बोधि प्राप्त करना चाहते हैं, उन्हें सदा शील (का पालन), गुरुजनों का उत्तम सत्कार, क्षान्ति और अनीर्ष्या, मात्सर्य का परित्याग, आकांक्षा-रहित होकर परार्थ रूपी धनार्जन में लगना, विपन्न लोगों का सदा हित, श्रेष्ठ का परिग्रहण और अश्रेष्ठ का त्याग तथा सद्धर्म का परिग्रहण करना चाहिए ॥१०२॥

महान् आचार्य आर्य नागार्जुन द्वारा विरचित रत्नावली नामक
राजपरिकथा (ग्रन्थ) समाप्त ।

भारतीय आचार्य ज्ञानगर्भ तथा भोट-लोचावा भिक्षु लुई-ग्यल-छन द्वारा अनुवाद, संशोधन और निर्णय किया गया। बाद में भारतीय आचार्य कनकवर्मा तथा भोट-लोचावा प-छप ञि-म-डक द्वारा तीन (मूल) संस्कृत संस्करणों के आधार पर संशोधन किया गया ।

इससे संसाररूपी दुःखसागर शुष्क हो ।

•